व, द
तब
ल्कुल की
ने मुझ
ा जब दे
भी प
व प्रधान
ान है। वे
थे। अपने
थे और वे
। वे चाहते
लन करें।
य जो धन
ए उन्होंने
ड़के खुद
अफ्रीका
ने यह सब
मेरे पास
दी में था।



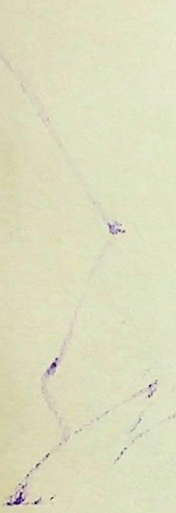
अधीर थे।
की स्थिति
पर कोई

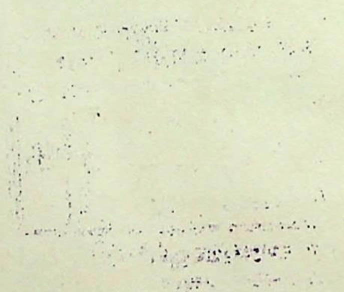
नवीर थे।
करते थे।
वीरता के
योद्धा थे
वह तो



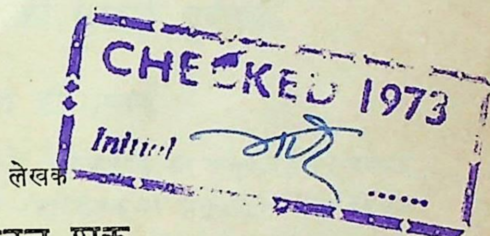

# बाल-द्विवेदी


43,70
20797





# बाल-द्विवेदी




लेखक

## देवीदत्त शुक्ल

( 'सरस्वती'-सम्पादक )



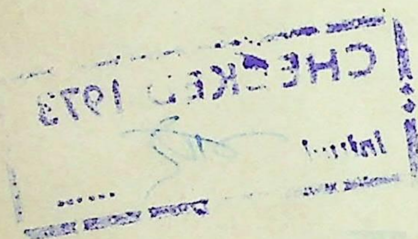
प्रकाशक

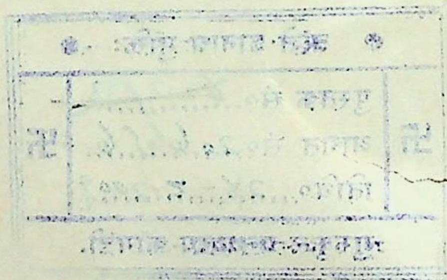
इण्डियन प्रेस, लिमिटेड,

इलाहाबाद

१९३९

*Published by*
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.





*Printed by*
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd
Benares-Branch.

# द्विवेदीजी की लिखी पुस्तकें

## पद्य की पुस्तकें

१—विनय-विनोद (भर्तृहरि के वैराग्यशतक का अनुवाद) सन् १८८६
२—स्नेह-माला (भर्तृहरि के श्रृङ्गारशतक का अनुवाद) सन् १८६०
३—बिहार-वाटिका (गीतगोविन्द आदि के पद्यों का अनुवाद) सन् १८६०
४—ऋतुतरंगिणी (ऋतुसंहार आदि के पद्यों का अनुवाद) सन् १८६१
५—गंगा-लहरी (जगन्नाथ पण्डितराज की रचना का गद्य और पद्य में अनुवाद) ... ... सन् १८६१
६—शिवमहिम्नस्तोत्र (हिन्दी गद्य और पद्य में अनुवाद) सन् १८६१
७—देवीस्तुति-शतक ... ... ... सन् १८६२
८—काव्य-मंजूषा—प्रथम भाग (सन् १८६५ से १६०२ तक लिखी गई ३३ कविताओं का संग्रह) सन् १६०३
६—कुमारसम्भव-सार (कुमारसम्भव के पहले के पाँच सर्गों का बोलचाल की भाषा में पद्यानुवाद) सन् १६०२
१०—कविता-कलाप (बोलचाल की भाषा की, पाँच कवियों की, कविताओं का संग्रह) ... ... सन् १६०६
११—सुमन (काव्य-मंजूषा का संक्षिप्त और परिवर्द्धित संस्करण) सन् १६२३

## गद्य की पुस्तकें

१—बेकन-विचार-रत्नावली (लार्ड बेकन के ३६ निबन्धों का अनुवाद) ... ... ... सन् १८६६

## लेख-संग्रह

## फुटकर

१—वेणी-संहार नाटक
२—सोहागरात } नहीं छपीं
३—तरुणोपदेश }
४—शिक्षासरोज (रीडरें)
५—ज़िला कानपुर का भूगोल
६—टेलीग्राफ़ी (अँगरेज़ी)

---

# निवेदन

हिन्दी भाषा को हिन्दी के जिन विद्वानों ने समुन्नत किया है उनमें 'सरस्वती' के स्वर्गीय सम्पादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी को हिन्दी के लेखकों ने विशिष्ट स्थान प्रदान किया है। यहाँ तक कि हिन्दी के इतिहास में उनका अलग एक युग तक माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि वे एक महान् युग-प्रवर्त्तक थे और उन्होंने हिन्दी को आधुनिक रूप और गौरव प्रदान कर उसकी अभूतपूर्व सेवा की है। ऐसे महान् व्यक्ति का चरित लिखने के हम पात्र नहीं। उसको तो हिन्दी के अधिकारी विद्वान् ही लिखेंगे। हमने इस पुस्तिका में द्विवेदीजी के जीवन का जो संक्षिप्त परिचय दिया है वह इसलिए कि हमारा हिन्दी-प्रेमी बालक-समुदाय अपनी मातृभाषा के इन निर्माता के आदर्श चरित से थोड़ा-बहुत परिचित हो जाय। इसमें हमने थोड़े में यह बताने का प्रयत्न किया है कि द्विवेदीजी क्या थे और उन्होंने हिन्दी की कैसे और कैसी सेवा करके हिन्दी के इतिहास में अपना नाम अजर-अमर कर लिया है। आशा है, हिन्दी का बालक-समुदाय हिन्दी के इन महारथी का यह परिचय पढ़कर मातृभाषा की, उन्हीं की तरह, सेवा करके अपना भी नाम अमर कर जाने के लिए प्रयत्नवान् होगा।

१८ जुलाई १९३९
इण्डियन प्रेस, लि०, प्रयाग

देवीदत्त शुक्ल



स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

# बाल-द्विवेदी

## महत्त्व

संसार में ऐसे महान् व्यक्ति बराबर आते रहते हैं जो अपने पीछे अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र में हमें उन महापुरुषों के पद-चिह्नों के अवश्य दर्शन होते हैं और उस क्षेत्र के इतिहासों में उनकी कीर्ति-गाथा सोने के अक्षरों में लिखी मिलती है। ऐसी महान् आत्माओं को लोग अमर बताकर गौरव-प्रदान करते हैं और कितने ही लोग उनका अनुसरण कर अपने जीवन को सार्थक बनाते हैं।

ऐसे अमरों का पवित्र दर्शन हमें भाषा के क्षेत्र में भी मिलता है। यहाँ हम अपनी मातृभाषा हिन्दी का ही उदाहरण लेते हैं। पृथ्वीराजरासो लिखकर चन्द वरदायी ने हिन्दी भाषा को सबसे पहले साहित्यिक रूप प्रदान किया था। आज आठ सौ वर्ष के बाद भी चन्द जीवित हैं। परन्तु ऐसे चन्द वरदायी इने-गिने ही दिखाई देते हैं। इस बात से भी उनके महत्त्व को स्थायित्व प्राप्त हो जाता है। आज हिन्दी के क्षेत्र में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी को जो गौरव प्राप्त है उसका एकमात्र कारण यही है कि वे हिन्दी पर अपनी अमिट छाप डाल गये हैं

जो काम चन्द वरदायी हिन्दी के पद्य के सम्बन्ध में कर गये हैं उससे कहीं अधिक महत्त्व का काम द्विवेदीजी हिन्दी के पद्य और गद्य दोनों के लिए कर गये हैं।

यदि हिन्दी को द्विवेदीजी न मिल जाते तो आज उसका क्या रूप होता, यह कहना कठिन है। हिन्दी के गद्य के क्षेत्र में यही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने उसे ठीक ठीक साहित्यिक जामा पहनाया है। आज हम हिन्दी को जिस उन्नत अवस्था में पाते हैं, इसका सारा श्रेय द्विवेदीजी को दिया गया है। सन् १८९६ से १९२८ तक अर्थात् लगातार ३२ वर्ष तक उन्होंने हिन्दी की जो अभूतपूर्व सेवा की है, यह उसी महान् प्रयत्न का परिणाम है कि हिन्दी भाषा और उसका साहित्य आज इतना अधिक समुन्नत है। जिस हिन्दी का पराभव थानेश्वर की युद्धभूमि में हुआ था, जो मुसलमानों का राज्य हो जाने पर अपने स्वाभाविक स्थान से गिरा दी गई थी और जिसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए साधु-सन्तों और सूत-मागधों के घरों में जाकर आश्रय लेना पड़ा था—कहने का मतलब यह कि जो जनता और राज्य के उपयुक्त आश्रय से आठ सौ वर्ष तक बराबर वञ्चित रही—ऐसी ही हिन्दी को द्विवेदीजी ने साहित्यिक रूप देकर तथा लोकव्यापी बनाकर अपना नाम अमर किया है।

हिन्दी के उठाने का काम सबसे पहले काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने शुरू किया था। परन्तु सन् १८८५ में उनका स्वर्गवास हो गया। फलतः उनके बाद उनका वह काम जहाँ

का तहाँ पड़ा रहा। उनके स्थान की पूर्ति करने के लिए कोई भी मैदान में नहीं आया और हिन्दी पहले की तरह फिर अनाथ हो गई।

सन् १८९३ में बाबू श्यामसुन्दरदास और उनके साथियों ने 'नागरी' का प्रचार करने के लिए काशी में 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की स्थापना की थी और यह घोषणा की थी कि सभा हिन्दी की उन्नति के लिए ठोस काम करेगी। परन्तु सभा की योजनायें अधिकतर साहित्यिक थीं, अतएव वह जनता का सहयोग नहीं प्राप्त कर सकी।

इधर हिन्दी की समुन्नति होनी अनिवार्य थी और उसका उद्धारक अपने कार्य के अनुरूप अपनी तैयारी करने में लगा हुआ था। उसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया। जब वह पूर्ण रूप से तैयार हो गया और उसमें आत्मविश्वास का भाव जाग्रत हो उठा तब आगे आकर उसने दृढ़ता के साथ कहा कि अब हिन्दी की अराजकता का उन्मूलन किया जायगा, हिन्दी के हितैषियों को सावधान हो जाना चाहिए।

यह घोषणा करनेवाले हमारे द्विवेदीजी ही थे, जो हिन्दी के क्षेत्र से कोसों दूर रेलवे में नौकर थे, किन्तु जिन्होंने साहित्यिक अभिरुचि होने के कारण हिन्दी से प्रेम किया और उसकी दुरवस्था का ज्ञान प्राप्त किया। जब उन्होंने देखा कि स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों में अशुद्धियों की भरमार है तब उनसे न रहा गया। उन्होंने सोचा कि यदि स्कूलों में अशु-

द्धियों से भरी पुस्तकों का पढ़ाना जारी रहा तो हिन्दी की बाढ़ मारी जायगी और हिन्दी-भाषियों का बड़ा अहित होगा। यह सोच-समझकर उन्होंने हाथ में क़लम ली और अपनी जन्मजात प्रतिभा का ऐसा परिचय दिया कि वे बात की बात में हिन्दी के प्रमुख नियन्ता बन बैठे। इस रूप में उन्होंने हिन्दी की जो महान् सेवा की उसके फल-स्वरूप वे हिन्दी के युग-प्रवर्तक माने गये और यह गौरव उन्हें उनके जीवन-काल में ही प्राप्त हो गया। द्विवेदीजी ऐसे ही महापुरुष थे। उनका यही उदात्त चरित आज अठारह करोड़ हिन्दी-भाषियों के उन्नत साहित्य का पवित्र इतिहास है।

## जन्म और शिक्षा

हिन्दी को 'हिन्दी' बनानेवाले द्विवेदीजी का जन्म संवत १९२१ (वैशाख शुक्ल ४) में कान्यकुब्ज द्विवेदी ब्राह्मण के परिवार में हुआ था। उनके जन्म का गाँव, रायबरेली जिले का दौलतपुर, शहरों या क़स्बों से कोसों दूर ठेठ देहात में था। गाँव क्या था, ६०-७० घरों की एक छोटी सी बस्ती थी। विशेषता थी तो इतनी ही कि यह गाँव ऐसे ब्राह्मणों का था जो पढ़ने-लिखने की थोड़ी-बहुत रुचि रखते थे। इसका एक कारण यह था कि १७वीं सदी के प्रसिद्ध कवि कविराज सुखदेव मिश्र वहाँ आकर बस गये थे और उस भूभाग के राजा के गुरु हो जाने से उनके वंशजों में पढ़ने-लिखने की प्रवृत्ति बनी रही।

द्विवेदीजी के पितामह संस्कृत के अच्छे पण्डित थे। वे बङ्गाल-हाता की कम्पनी की देशी फ़ौजों में पुराण सुनाया करते थे। परन्तु उनकी मृत्यु अकाल में ही हो गई, जिससे उनके पुत्र कुछ पढ़-लिख न सके। उनके दो पुत्र थे। जेठे पुत्र पण्डित रामसहाय दुबे ही हमारे द्विवेदीजी के पिता थे। जीवन-निर्वाह के लिए उन्हें कम्पनी की फ़ौज में नौकरी करनी पड़ी और उनके छोटे भाई पण्डित दुर्गाप्रसाद पड़ोस के एक तालुक़दार के यहाँ क़िस्से सुनाने का काम करने लगे।

द्विवेदीजी के पिता पण्डित रामसहाय सन् ५७ के ग़दर के समय पञ्जाब में थे। ग़दर होने पर उनकी फ़ौज ने भी दूसरी फ़ौजों की तरह विद्रोह कर दिया। इस पर गोरी सेना ने उसका दमन किया। सैकड़ों जान से मारे गये, परन्तु पण्डित रामसहाय बच निकले और ज्यों-त्यों कर सही-सलामत दौलतपुर पहुँच गये। बाद को, देश में शान्ति स्थापित हो जाने पर, वे बम्बई चले गये और वहाँ वल्लभ-कुल के गुसाँइयों के यहाँ नौकर हो गये।

द्विवेदीजी का जन्म ऐसे ही साधारण परिवार में हुआ था। शुरू-शुरू में गाँव की परिपाटी के अनुसार उन्हें संस्कृत पढ़ाई गई। उन्होंने शीघ्रबोध, अमरकोष, दुर्गा-सप्तशती का पढ़ना आरम्भ किया। अभी आधा-परधा पढ़ा होगा कि संस्कृत का पढ़ना छुड़ा दिया गया और उर्दू पढ़ने के लिए उनका नाम गाँव के स्कूल में लिखा दिया गया। अवध में अँगरेज़ी राज्य नया-नया क़ायम हुआ था। सरकार के यहाँ अँगरेज़ी पढ़े-लिखे देशी

लोगों की बड़ी माँग थी। इसकी ख़बर देहातों तक में जा पहुँची थी। दौलतपुर के भी कुछ लड़के रायबरेली के अँगरेज़ी स्कूल में अँगरेज़ी पढ़ने को भेजे गये।

द्विवेदीजी को भी शीघ्र ही गाँव का स्कूल छोड़ देना पड़ा। वे अँगरेज़ी पढ़ने के लिए रायबरेली भेजे गये। रायबरेली दौलतपुर से दूर था। उन्हें अपने गाँव से वहाँ तक पैदल जाना पड़ता था। साथ ही महीने भर के लिए खाने-पीने का सामान भी लादकर ले जाना पड़ता था। उस समय उनकी उम्र कुल १३ वर्ष की थी। परन्तु अँगरेज़ी पढ़ने के उत्साह के कारण उन्होंने कुछ भी परवा न की और शौक़ के साथ घर से उतनी दूर पढ़ने बराबर जाते रहे।

किन्तु, द्विवेदीजी का इतनी दूर आना-जाना उनके चाचा को ठीक न जँचा। अतएव इन्होंने उन्हें रायबरेली से हटा लिया और उन्नाव ज़िले के रनजीतपुरवा के स्कूल में जाकर भर्ती करा दिया। रायबरेली की अपेक्षा रनजीतपुरवा दौलतपुर से कुछ नज़दीक था। वहाँ से वह २४ मील के लगभग पड़ता था। परन्तु कुछ दिनों के बाद पुरवा का स्कूल टूट गया। तब उन्हें गङ्गा पार कर फ़तेहपुर जाकर वहाँ के स्कूल में नाम लिखाना पड़ा। परन्तु उन्हें यह स्कूल भी छोड़ना पड़ा और वे उन्नाव जाकर वहाँ के स्कूल में पढ़ने लगे।

उन्नाव गये तो बड़े हौसले से, परन्तु द्विवेदीजी का वहाँ भी पढ़ना न हो सका। यहाँ तक कि इस बार उन्हें स्कूल से सदा के

लिए छुट्टी ले लेनी पड़ी। इस समय वे १८ वर्ष के थे। वे कुल पाँच बर्ष तक अँगरेज़ी पढ़ सके और सो भी एक स्थान में रहकर पढ़ना नसीब नहीं हुआ। ऐसी दशा में वे कैसा और कितना पढ़ सके होंगे, यह सहज में अनुमान किया जा सकता है।

## रेलवे की नौकरी

परन्तु द्विवेदीजी काम भर की अँगरेज़ी सीख गये थे। उन्नाव का पढ़ना छोड़कर वे सीधे अजमेर चले गये और वहाँ रेलवे में १५ रुपया मासिक वेतन पर नौकर हो गये। वे साल भर तक वहाँ काम करते रहे। इसके बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी। अब वे अपने पिता के पास बम्बई चले गये।

बम्बई में द्विवेदीजी के पिता को गुसाइयों के यहाँ दस रुपये मासिक मिलते थे। उन्होंने द्विवेदीजी को सलाह दी कि गुसाइयों के यहाँ नौकरी कर लो। उनके कहने-सुनने से गुसाईं जी ज़रूर नौकर रख लेंगे। परन्तु द्विवेदीजी राज़ी न हुए और पिता के पास रहकर तारबर्क़ी का काम सीखने लगे। जब तार का काम सीखकर उसमें निपुण हो गये तब उन्होंने इंडियन मिडलेंड रेलवे में, जो हाल में ही खुली थी, नौकरी कर ली। वे तारबाबू हो गये और २५) मासिक वेतन पाने लगे।

रेलवे की नौकरी में द्विवेदीजी की प्रतिभा का विलक्षण विकास हुआ। काम किस तरह लगन के साथ किया जाता है,

समय की पाबन्दी से क्या लाभ होता है, परिश्रम से आदमी क्या-क्या कर सकता है—इन सब बातों की उन्हें जानकारी ही नहीं हुई, किन्तु वे सब की सब उनके स्वभाव का अङ्ग बन गईं। वे रेलवे का अपना काम चौकसी के साथ ही नहीं करते थे, किन्तु सारा का सारा जल्दी ही निपटा भी डालते थे और उन्हें जो समय मिलता था उसमें अपने साथियों का भी अधिकांश काम नित्य कर डालते थे। इस प्रकार सभी विभाग के बाबुओं तथा दूसरे व्यक्तियों का काम करके वे रेलवे-सम्बन्धी सभी कामों के जानकर हो गये। इस सिलसिले में उन्होंने जो घोर परिश्रम किया उसका फल उन्हें मिला। उनके काम से उनके अफ़सर .खुश रहते ही थे। अतएव उनकी पदोन्नति होती गई और कुछ ही दिनों में वे ज़िम्मेदारी के पद पर पहुँच गये और अच्छा वेतन भी मिलने लगा।

## साहित्य-प्रेम

परन्तु द्विवेदीजी रेलवे की नौकरी करने के लिए नहीं पैदा हुए थे। उन्हें तो उससे कहीं अधिक महान् कार्य करके अपना नाम छोड़ जाना था, इसी से उनका ध्यान लड़कपन से ही उसकी ओर हो गया था।

द्विवेदीजी का जब जन्म हुआ था, पड़ोस के गाँव के पण्डित सूर्यप्रसाद द्विवेदी नाम के एक ज्योतिषी ने उनकी जीभ पर सरस्वती का बीज लिख दिया था। कदाचित यह उसी तान्त्रिक

क्रिया का परिणाम हुआ कि उनका चाव लिखने-पढ़ने की ओर बराबर बना रहा। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, वे ठीक-ठीक पढ़-लिख नहीं पाये। उनके अभिभावक पढ़ाने-लिखाने की विधि-व्यवस्था से परिचित भी नहीं थे। तथापि उनमें पढ़ने-लिखने की प्रवृत्ति लड़कपन से ही हो गई थी। उन्होंने गाँव में रहते समय रामचरितमानस और व्रजविलास का ख़ूब पाठ किया था। उनके गाँव में हिन्दी की कविता का प्रचार होने से उन्होंने सैकड़ों कवित्त-सवैये भी मुखस्थ कर लिये थे। बाद को वे जब बम्बई पहुँचे और वहाँ पठन-पाठन का व्यापक प्रचार देखा तब उनकी पढ़ने-लिखने की प्रवृत्ति ने ज़ोर मारा। अँगरेज़ी का अपना ज्ञान बढ़ाने में ही वे नहीं लग गये, किन्तु उसके साथ-साथ उन्होंने मरहठी और गुजराती भी सीख ली। वे संस्कृत का भी गम्भीरता के साथ अध्ययन करने लगे।

जब द्विवेदीजी इस प्रकार नियमित रूप से विद्योपार्जन कर रहे थे, संयोगवश उन्हें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की 'कवि-वचन-सुधा' के दर्शन हो गये। उन दिनों हिन्दी के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू की दुन्दुभि बज रही थी और उनकी 'कविवचन-सुधा' का बड़ा नाम था। द्विवेदीजी उस समय होशङ्गाबाद (सी० पी०) में थे। उनका भी ध्यान हिन्दी में कविता लिखने की ओर गया। यह बात सन् १८८५ की है।

द्विवेदीजी हिन्दी की कविता से परिचित तो थे ही। वहाँ के हिन्दी के एक जानकार बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ से उन्होंने

हिन्दी का पिङ्गल पढ़ा और उनकी देख-रेख में महिम्न का, हिन्दी के गद्य और पद्य में, अनुवाद भी किया। अनुवाद में उन्हें सफलता मिली। उससे उत्साहित होकर उन्होंने भर्तृहरि के दो शतकों के अनुवाद किये। उसके बाद गीतगोविन्द और गङ्गा-लहरी के पद्यानुवाद किये तथा ऋतु-तरङ्गिणी और देवीशतक की रचना की। इनमें भर्तृहरि के वैराग्य-शतक के अनुवाद को छोड़कर अपनी इन रचनाओं में उन्होंने गण-वृत्तों का ही प्रयोग किया। मरहठी में गण-वृत्तों का प्रचार देखकर ही उन्होंने हिन्दी में यह पहला नया प्रयत्न किया था। इस प्रकार द्विवेदीजी हिन्दी में कविता लिखने लगे। रहा उनका पठन-पाठन, सो वह तो तत्परता के साथ बराबर हो ही रहा था।

धीरे-धीरे द्विवेदीजी झाँसी पहुँचे। वे वहाँ के ट्रैफ़िक मैनेजर के दफ़्र में क्लर्क बनाकर भेजे गये थे। विद्या और सद्गुणों के कारण उनका रेलवे के सभी श्रेणी के लोगों पर दब-दबा-सा जम गया था। यद्यपि वे अपने दफ़्र में एक साधारण क्लर्क भर थे, तो भी उनके बड़े साहब बिना उनकी सलाह लिये कोई भी काम नहीं करते थे।

झाँसी में द्विवेदीजी सौ रुपये से ऊपर मासिक वेतन पाने लगे थे परन्तु वे रहते थे बहुत साधारण ढङ्ग से। अपना सारा ख़र्च अपनी आमदनी के एक तिहाई हिस्से में चला लेते थे। शेष रुपया अख़बारों का मूल्य देने, पुस्तकें ख़रीदने तथा दूसरों की मदद करने में ख़र्च करते थे। ख़ुद पाँच रुपये

मासिक किराये के मकान में रहते थे, पर संस्कृत पढ़ने के लिए जिन पण्डितजी को रक्खा था उन्हें १५) मासिक वेतन देते थे। उनके बड़े साहब ने उनकी पदोन्नति करके उन्हें इधर-उधर कई बार भेजना चाहा, परन्तु झाँसी छोड़कर अन्यत्र जाना उन्होंने नहीं स्वीकार किया और अपने विद्योपार्जन तथा हिन्दी-सेवा के कार्य में वे नियमपूर्वक लगे रहे।

अपने अध्ययन के फल-स्वरूप द्विवेदीजी संस्कृत, अँगरेज़ी, बँगला, मराठी, गुजराती और उर्दू के अच्छे ज्ञाता हो गये थे। अँगरेज़ी का उनका ज्ञान तो किसी ग्रेजुएट से किसी तरह कम नहीं था। परन्तु उनको हिन्दी और संस्कृत से अधिक प्रेम था। वे संस्कृत में कविता लिखते थे और उसे धाराप्रवाह बोल भी सकते थे।

द्विवेदीजी ने हिन्दी में कविता लिखना सन् १८८९ से शुरू किया था। सन् १८९१ तक उन्होंने छः छोटी-छोटी कविता-पुस्तकें लिखकर छपवाई थीं। इस समय तक उन्हें अन्य भाषाओं के साहित्य का काफ़ी अनुभव हो गया था। मराठी आदि भाषाओं की उन्नति को देखकर उन्होंने चाहा कि मातृ-भाषा हिन्दी की भी उन्नति हो। इस भावना के उदय होते ही उन्होंने हिन्दी की ओर ध्यान दिया। उन्होंने देखा कि हिन्दी की बड़ी दुरवस्था है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का स्वर्गवास हो ही गया था। किसी भी लेखक ने उनके अभाव की पूर्ति, अपनी प्रतिभा का परिचय देकर, नहीं की। इसके विपरीत जो

दो-एक नये लेखक हिन्दी में आये थे वे उसे उन्नत करना तो दूर रहा, अपनी मनमानी से उसकी उन्नति में बाधक-से हो रहे थे। उन्होंने जो रचनायें लिखी थीं, उनमें ऐसी ऐसी भूलें थीं कि उनसे हिन्दी की अपकीर्ति हो रही थी, और मज़ा यह कि वे रचनायें आदर के साथ स्कूलों में पढ़ाई जाती थीं। यह ग़ज़ब की बात थी। इससे द्विवेदीजी अपना धैर्य खो बैठे।

## साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश

उस समय हिन्दी में पुराने लेखकों में पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र आदि का नाम था। नये लेखकों में पण्डित श्रीधर पाठक, लाला सीताराम बी० ए० आदि सुलेखक प्रसिद्ध हो रहे थे। जब द्विवेदीजी ने देखा कि हिन्दी के नेता हिन्दी की दुरवस्था की ओर समुचित ध्यान नहीं दे रहे हैं तब वे स्वयं ही मैदान में कूद पड़े।

उन दिनों लाला सीताराम बी० ए० के नाम की धूम थी। कदाचित् वे संयुक्त-प्रान्त के पहले विद्यार्थी थे जिन्होंने कलकत्ता-यूनिवर्सिटी से पहले-पहल बी० ए० पास किया था। एक तो यह बात थी, दूसरे उन्होंने कालिदास के काव्यों का पद्यानुवाद किया था। इससे हिन्दी में उनका नाम हो गया था।

परन्तु द्विवेदीजी को लालाजी के अनुवाद ठीक नहीं जँचे। अतएव उन्होंने सन् १८९६ में लालाजी के 'कुमारसम्भव भाषा' की समालोचना काशी की 'काशी-पत्रिका' में छपवाई। उसमें

उस आलोचना का कुछ ही अंश प्रकाशित हुआ था कि पत्रिका ही बन्द हो गई। उस आलोचना का हिन्दी-प्रेमियों में अच्छा स्वागत हुआ। यह देखकर तथा लोगों का आग्रह जानकर उन्होंने उस आलोचना को कालाकाँकर के 'हिन्दुस्तान' में फिर से छपवाया। इसके बाद सन् १८९७ में उन्होंने लालाजी के 'ऋतु-संहार भाषा' की समालोचना लिखी, जो बम्बई के 'श्रीवेङ्क-टेश्वर-समाचार' में छपी। इन दोनों समालोचनाओं के निकलने से हिन्दी के क्षेत्र में द्विवेदीजी का नाम हो गया और लोगों ने उन्हें उन समालोचनाओं के लिए बधाई दी। इससे द्विवेदीजी को प्रोत्साहन मिला और उन्होंने लालाजी के मेघदूत और रघुवंश के अनुवादों की भी समालोचना लिख डाली और चारों आलोचनाओं को 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' के नाम से पुस्तक-रूप में सन् १९०१ में प्रकाशित किया।

द्विवेदीजी की आलोचनाओं का उत्तर न तो लालाजी ने दिया और न उनके प्रशंसकों को ही उनका पक्ष-समर्थन करने का साहस हुआ। हाँ, लालाजी ने उस आलोचना को आधार मान-कर द्विवेदीजी पर मानहानि का दावा करने की बातचीत लखनऊ के एक वकील से शायद की थी, परन्तु कदाचित् मित्रों के सम-झाने-बुझाने पर या यह जानकर कि अभियोग सिद्ध करने में कठिनाई होगी, उन्होंने दावा नहीं किया।

द्विवेदीजी हिन्दी के क्षेत्र में आगे आ गये और हिन्दी के लेखकों एवं प्रेमियों का ध्यान उनकी ओर अनायास ही आकृष्ट

हो गया। यही नहीं, उनकी कविताओं को हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रों में आदर के साथ स्थान दिया जाने लगा। वे खरे समालोचक के साथ ही अपनी सुन्दर कविताओं से सुकवियों में भी गिने गये।

१८९६ से १९०३ तक द्विवेदीजी ने भिन्न-भिन्न विषयों की जो कवितायें पत्र-पत्रिकाओं में छपवाई थीं, उनका संग्रह 'काव्यमञ्जूषा' के नाम से जयपुर से प्रकाशित हुआ। इसके बाद उन्होंने खड़ी बोली में 'कुमारसम्भवसार' के नाम से कुमारसम्भव के प्रथम पाँच सर्गों का अनुवाद किया, जिसे काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया। इसके सिवा 'बेकन-विचार-रत्नावली', 'भामिनी-विलास का हिन्दी अनुवाद' और 'दार्शनिक परिभाषा' नाम की पुस्तकें भी लिखीं।

सरकारी अदालतों में नागरी को भी स्थान देने के लिए काशी की सभा ने जो आन्दोलन किया था, उसमें द्विवेदीजी ने भी सक्रिय भाग लिया। उन्होंने नागरी को उसका उपयुक्त स्थान देने के लिए सरकार से अपनी कविताओं-द्वारा आग्रह किया और झाँसी तथा जालौन जिले के सैकड़ों आदमियों से हस्ताक्षर कराकर भेजे। इस प्रकार हिन्दी-प्रचार का नेतृत्व भी उन्होंने ग्रहण कर लिया था, साहित्य-रचना में तो वे अग्रसर हो ही गये थे।

इन सब कार्यों के फल-स्वरूप जहाँ एक ओर हिन्दी के क्षेत्र में द्विवेदीजी की धाक जम गई, वहाँ दूसरी ओर उनकी उपर्युक्त आलोचना तथा बलीवर्द, गर्दभ आदि व्यंग्यात्मक कवि-

ताओं के कारण हिन्दी के कुछ लेखक, विशेष कर काशी के, उनसे रुष्ट हो गये जब सन् १९०० में उनकी दूसरी आलोचनात्मक पुस्तक 'नैषध-चरित-चर्चा' प्रकाशित हुई तब एक नवयुवक विद्वान् पण्डित माधवप्रसाद मिश्र ने काशी से नये निकले हुए अपने 'सुदर्शन' नाम के पत्र में उसकी कड़ी आलोचना की।

द्विवेदीजी ने अपनी उक्त 'चर्चा' अँगरेज़ी तर्ज़ पर लिखी थी और वह हिन्दी में अपने ढङ्ग की पहली, साथ ही एक उत्कृष्ट पुस्तक थी। उसमें उन्होंने नैषधकार का आवश्यक परिचय देते हुए श्रीहर्ष के चरित की विवेचना की थी तथा उनके काव्य के गुण-दोषों का वर्णन किया था। इसके लिखने में उन्होंने पाश्चात्य देश के विद्वान् खोजियों के निष्कर्षों का उल्लेख करके उनके महत्त्व को स्वीकार किया था। 'सुदर्शन' के नवयुवक सम्पादक ने उन निष्कर्षों को निराधार बतलाते हुए द्विवेदीजी पर व्यक्तिगत कटु आक्षेप किये। द्विवेदीजी ने उस आलोचना का समुचित उत्तर १९०० की सरस्वती के दो अङ्कों में विस्तार के साथ दिया। इस विवाद में उन्होंने अपनी विवेचनाशक्ति एवं पाण्डित्य का जो विशद परिचय दिया उससे उनके गौरव की और भी वृद्धि हुई।

द्विवेदीजी का ध्यान प्रारम्भ में ही इस बात की ओर गया था कि हिन्दी के लेखक शुद्धाशुद्ध का विचार नहीं करते हैं, जिसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ है कि स्कूलों में भी लड़कों को अशुद्ध भाषा पढ़ाई जाती है। इस बात को उन्होंने हिन्दी

की उन्नति के लिए अधिक हानिकर मान लिया था, जैसा कि उनकी 'कुमारसम्भव-भाषा' की समालोचना से भी प्रकट होता है। इसलिए वे स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली हिन्दी की पुस्तकों पर भी दृष्टि रखते थे। संयोगवश उनकी निगाह में एक नई हिन्दी रीडर पड़ गई। इसका प्रकाशन इलाहाबाद के प्रसिद्ध इंडियन प्रेस ने किया था। उस रीडर में तरह-तरह की अनेक भूलें थीं। फलतः द्विवेदीजी ने उसकी बहुत कड़ी आलोचना की और शिक्षा-विभाग का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया कि ऐसी अशुद्धियों से भरी पुस्तकों का पढ़ाना अहितकर है। उन्होंने अपनी इस आलोचना को पुस्तक-रूप में छपवाया। उसके प्रकाशित होते ही हलचल मच गई। रीडर के लेखक महोदय उस आलोचना का कोई उत्तर न दे सके। परन्तु उसके प्रकाशक, इंडियन प्रेस के स्वामी, बाबू चिन्तामणि घोष रुष्ट होने के बदले उनसे प्रसन्न हुए। उन्होंने द्विवेदीजी के पाण्डित्य का लोहा माना और अपने मैनेजर बाबू गिरिजाकुमार घोष को उनके पास झाँसी भेजकर यह अनुरोध किया कि वे इंडियन प्रेस के लिए रीडरें लिख दें। इस पर द्विवेदीजी ने शिक्षा-सोपान नाम की रीडरें लिख दीं, परन्तु शिक्षा-विभाग ने उन्हें मंज़ूर नहीं किया। हिन्दी के सौभाग्य से यह अच्छा ही हुआ, अन्यथा उनकी सारी प्रतिभा स्कूली किताबें बनाने में ही ख़र्च हो गई होती और वे शायद ही हिन्दी का वह काम कर पाते जिसके द्वारा वे हिन्दी के आचार्य हो सके।

द्विवेदीजी में शुरू से ही क्रान्ति की भावना थी। उन्होंने प्राचीन परिपाटी का अनुसरण नहीं किया। 'विहारवाटिका' को छोड़कर उन्होंने अपनी प्रारम्भ की शेष सभी पुस्तकें गणवृत्तों में ही लिखीं। इसी तरह विषय भी उन्होंने पुराने कवियों के नहीं लिये और १८९६ के बाद तो उन्होंने अनूठे विषयों पर ही कवितायें लिखीं। फलतः बीसवीं सदी का अन्त होते-होते वे हिन्दी के सुकवि और सुलेखक के रूप में ही समादृत नहीं हुए, किन्तु हिन्दी के प्रभावशाली नेता भी हो गये।

## सरस्वती का सम्पादन

बीसवीं सदी का प्रारम्भ होते ही प्रयाग के इंडियन प्रेस ने 'सरस्वती' नाम की एक सुन्दर मासिक पत्रिका निकाल दी। काशी के पाँच हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक उसके सम्पादक बनाये गये। दो वर्ष तक वह उनके सम्पादन में नियम-पूर्वक निकलती रही। परन्तु उसका जैसा चाहिए था, प्रचार नहीं हुआ। दो वर्ष के बाद चार सम्पादक अलग हो गये, तीसरे वर्ष अकेले बाबू श्यामसुन्दरदास ने उसका सम्पादन किया, साथ ही यह भी कह दिया कि समयाभाव के कारण वे अगले वर्ष से उसका सम्पादन न कर सकेंगे। अतएव 'सरस्वती' के लिए एक सुयोग्य सम्पादक की खोज होने लगी।

उस समय हिन्दी के क्षेत्र में द्विवेदीजी का ख़ासा नाम था। 'सरस्वती' के सञ्चालक भी उनकी योग्यता का परिचय पा चुके

थे। जब 'सरस्वती' के लिए सम्पादक की आवश्यकता हुई तब स्वभावतः उनका ध्यान द्विवेदीजी की ओर गया। यद्यपि उनसे कहा गया कि द्विवेदीजी लड़ाकू स्वभाव के आदमी हैं और प्रेस से उनकी नहीं निभेगी, तो भी प्रेस-स्वामी उदारमना बाबू चिन्तामणि घोष ने सरस्वती के सम्पादन का भार द्विवेदीजी को बुलाकर सौंप दिया।

द्विवेदीजी उन दिनों झाँसी में थे। उन्हें रेलवे से १५०) मासिक वेतन मिलता था। हिन्दी की सेवा करने का चाव होने के कारण उन्होंने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार सहर्ष स्वीकार कर लिया। 'सरस्वती' का कार्य उन्होंने इसलिए स्वीकार किया था कि वे उसके द्वारा अपने विचारों के अनुसार हिन्दी की समुचित रीति से सेवा कर सकेंगे। और सरस्वती का सम्पादन उन्हें क्या मिला, एक वरदान मिल गया।

'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने नई जान डाल दी। उनके साल भर के ही सम्पादन में वह सबकी प्यारी हो गई। परन्तु इसी बीच में कारणवश उन्हें अपनी अर्थ-प्रद नौकरी से इस्तीफ़ा दे देना पड़ा। और कोई होता तो ऐसे सङ्कट के समय 'सरस्वती' की बेगार को छोड़ बैठता और नई जीविका की खोज में लगता। परन्तु द्विवेदीजी ने मिलती हुई नौकरियों की ओर भी ध्यान नहीं दिया। वे झाँसी को छोड़कर कानपुर चले गये और वहां जुही में रहकर २५) मासिक के अलाउन्स पर 'सरस्वती' का लगन के साथ सम्पादन करने लगे।

द्विवेदीजी अर्थ-कीट नहीं थे। वे सच्चे अर्थों में विशुद्ध साहित्यिक थे और उससे अधिक मातृ-भाषा के प्रेमी और उसकी समुन्नति के महत्त्वाकांक्षी। 'सरस्वती' उनकी अभिलाषा की पूर्ति का एक उपयुक्त साधन थी। तब उसे छोड़कर वे अर्थ की चिन्ता में कैसे पड़ते? फलत: पास में जो थोड़ी-बहुत पूँजी थी उसी पर निर्भर होकर वे हिन्दी-सेवा के काम में उत्साह के साथ संलग्न हो गये।

'सरस्वती' उस समय हिन्दी में अपने ढङ्ग की पहली और अकेली पत्रिका थी। द्विवेदीजी को उसे लोकप्रिय बनाकर उसका प्रचार बढ़ाना था। परन्तु उसका सम्पादन-भार ग्रहण करते ही उनके आगे बड़ी विकट कठिनाई उपस्थित हो गई। एक तो उस समय हिन्दी में इने-गिने ही लेखक थे और जो लेखक उसमें अब तक लिखते आये थे उन्होंने, द्विवेदीजी के सम्पादक होते ही, उसमें लिखना बन्द कर दिया। परन्तु यह रङ्ग-ढङ्ग देखकर वे ज़रा भी विचलित नहीं हुए, बरन उन्होंने इस अवसर पर अपनी विलक्षण कार्य-क्षमता का परिचय दिया। 'सरस्वती' को उन्होंने ऐसा निकाला कि कोई यह तक न जान पाया कि वे उसके लिए किस प्रकार उत्तम से उत्तम सामग्री जुटा लेते हैं और उसे प्रतिमास ठीक समय पर निकाल देने में कैसे समर्थ हो जाते हैं।

अपने समय के लेखकों का सहयोग न पाने पर द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को अपने ही लेखों से भरने का निश्चय किया और

वर्ष भर तक 'सरस्वती' एकमात्र उन्हीं के लेखों से सज-धजकर निकलती रही, अवश्य ही वे विविध नामों से लिखते रहे। हिन्दी-प्रेमियों ने उसका स्वागत किया और उसका प्रचार भी बढ़ा। 'सरस्वती' की प्रसिद्धि हो गई। यह देखकर दूसरे वर्ष से उन्होंने 'सरस्वती' की पृष्ठ-संख्या बढ़ा दी, साथ ही उसमें अच्छे-अच्छे चित्रों के देने की भी व्यवस्था की। उन्हें कुछ नवयुवक लेखक भी मिल गये, जिनका उन्होंने स्वागत किया और उनके लेखों तथा रचनाओं को 'सरस्वती' में स्थान दिया। इन सब बातों से उन्हें भी प्रोत्साहन मिला और वे 'सरस्वती' को और भी अधिक समुन्नत करने को दत्तचित्त हो गये। इसके लिए उन्होंने पाश्चात्य देशों की पत्रिकाओं का संग्रह कर उनका अध्ययन करना प्रारम्भ किया। देशी पत्रिकाओं की रूप-रेखा तथा दशा का ज्ञान उन्हें था ही, अब वे विदेशी पत्रिकाओं को भी देखने और उनका मनन करने लगे। यही नहीं, इस प्रकार नया अनुभव प्राप्त कर उन्होंने 'सरस्वती' को और भी ऊँचा उठा दिया।

प्रारम्भ के दो वर्ष तक 'सरस्वती' में केवल बड़े-बड़े लेख और कवितायें ही छपती रही थीं। 'सम्पादकीय' आदि उसमें दो वर्ष तक बिलकुल नहीं छपे। तीसरे वर्ष अकेले बाबू श्यामसुन्दरदास को ही उसका सम्पादन करना पड़ा और उन्होंने उसे मासिक पत्रिका का रूप प्रदान किया। सम्पादकीय नोट तो उन्होंने छापे ही, साथ ही स्तम्भ भी खोले। चौथे

वर्ष द्विवेदीजी आ गये और उन्होंने उसका स्टेण्डर्ड और भी ऊँचा कर दिया, साथ ही उसके स्तम्भ भी बढ़ाये।

## संघर्ष

इस प्रकार जब 'सरस्वती' का काम चल निकला और बाधा डालनेवालों की डाली हुई बाधा कारगर न हो सकी तब द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में भाषा और उसके व्याकरण का प्रश्न उठाया। उनके सम्पादन-काल के दूसरे वर्ष की 'सरस्वती' में, अर्थात् सन् १९०५ की 'सरस्वती' में, उनका 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक प्रसिद्ध लेख छपा। उसमें उन्होंने प्रसङ्गवश अपने से पहले के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं के अवतरण देकर उनकी व्याकरण-सम्बन्धी भूलें दिखलाईं और यह लिखा कि हिन्दी के इन महारथियों ने अपनी रचनाओं में व्याकरण के नियमों की जो अवहेलना की है उससे भाषा में 'अनस्थिरता' आ गई है, जो हिन्दी की उन्नति में बाधक हो रही है। यह महत्त्वपूर्ण लेख लिखकर उन्होंने अपने समय के लेखकों को शुद्ध लिखने के लिए सावधान किया और आगे के लिए उनकी आँखें खोल दीं। फलतः लोगों ने उस लेख का स्वागत किया। परन्तु उसके प्रकाशित होते ही हिन्दी के कुछ महारथी क्रोध से तिलमिला उठे। पर करते क्या। उनके लेख की सारी बातें साधार थीं।

अपने उस लेख में द्विवेदीजी ने 'भारतमित्र' के तत्कालीन सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बँगला भाषा के अनुवाद का एक अवतरण उद्धृत किया था और उसके दोष दिखाये थे। गुप्तजी उस दोषोद्घाटन को न सह सके। वे द्विवेदीजी के लेख में प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर उन पर बुरी तरह टूट पड़े। गुप्तजी उर्दू के सुलेखकों में थे और हँसी-मज़ाक़ लिखने में प्रसिद्ध थे। द्विवेदीजी के विरुद्ध उन्होंने 'भारतमित्र' में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक एक लेख-माला 'आत्माराम' के नाम से लिखी। उसमें उन्होंने द्विवेदीजी का बड़ा उपहास किया, किन्तु तथ्य की बातों पर उतना विचार नहीं किया। द्विवेदीजी ने गुप्तजी के आक्षेपों का उत्तर 'सरस्वती' में एक दूसरा लेख लिखकर दिया। इसके सिवा उनके उपहास के प्रतिवाद-स्वरूप 'सरगौ नरक ठिकाना नाहिं' और 'टेसू की टाँग' शीर्षक कवितायें भी लिखीं। इस विवाद में हिन्दी के नामी लेखक पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र, पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री आदि ने भी भाग लिया और द्विवेदीजी के पक्ष में 'आत्माराम की टें टें' जैसे लेख लिखे। उस समय हिन्दी के क्षेत्र में, हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों में, जो द्वन्द्व हुआ था उसमें यद्यपि 'अरसिकता' का काफ़ी प्रभाव दिखाई दिया था, तथापि उसका परिणाम अच्छा ही हुआ। हिन्दी के लेखक शुद्ध लिखने के लिए सावधान हो गये और हिन्दी में उसके परिष्कृत युग का आविर्भाव हो गया, जिसके प्रवर्त्तन का श्रेय द्विवेदीजी को दिया गया।

उक्त वाद-विवाद का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि 'सरस्वती' की कीर्ति चारों ओर फैल गई और वह हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका हो गई। साथ ही लोगों ने इस बात का भी अनुभव पहले-पहल किया कि हिन्दी के क्षेत्र का शास्ता अब आ पहुँचा जो हिन्दी को उन्नत करने में संलग्न हो गया है। लोगों की इस प्रतीति को देखकर, द्विवेदीजी को प्रतिष्ठा में आया जानकर कुछ मत्सरी लोग जल उठे और उन्होंने ऐसे षड्यन्त्र किये कि उनकी हिन्दी के प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठित लेखकों से वर्षों तक मुठभेड़ें होती रहीं।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सङ्घर्ष से द्विवेदीजी ने छुट्टी पाई नहीं कि उनकी मुठभेड़ काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापक तथा उसके मुख्य सूत्रधार बाबू श्यामसुन्दरदास से हो गई। द्विवेदीजी का काशी की सभा से अच्छा सम्बन्ध था। उसके नागरी के पिछले आन्दोलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था और, आग्रह किये जाने पर, सन् १९०० में वे उसके 'सदस्य' भी हो गये थे। उन्होंने सभा के लिए एक दार्शनिक परिभाषा लिख दी थी, जिसके आधार पर सभा ने 'वैज्ञानिक कोष' प्रकाशित किया। सभा ने उनके 'कुमारसम्भवसार' को भी छापा था। इस प्रकार सभा और उसके सूत्रधारों से उनका काफ़ी अधिक मेल-जोल था। परन्तु सन् १९०३ में जब वे 'सरस्वती' के सम्पादक हो गये और सन १९०४ की 'सरस्वती' के अक्टूबर के अङ्क में उन्होंने सभा-द्वारा की गई

हिन्दी-पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट की समालोचना छापी और उसमें उक्त रिपोर्ट के दोष दिखाये तब सभावाले उनसे बेतरह नाराज़ हो गये।

'सरस्वती' काशी की उक्त सभा के 'अनुमोदन' से प्रकाशित होती थी। यह बात उसके प्रत्येक अङ्क के मुखपृष्ठ पर छपी रहती थी। फलतः सभा की कार्यकारिणी की ओर से उस समालोचना की शिकायत ५ नवम्बर १९०४ को पत्र लिखकर 'सरस्वती' के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष से की गई। द्विवेदीजी ने इस पत्र को 'सरस्वती' के नवम्बर के अङ्क में छाप दिया, साथ ही उसका समुचित उत्तर भी। परन्तु सभा के सूत्रधारों को उससे सन्तोष नहीं हुआ। अतएव सभा की ओर से घोष बाबू को दूसरा पत्र लिखा गया, जिसमें यह आग्रह किया गया कि या तो 'सरस्वती' में सभा के विरुद्ध कभी कुछ न लिखा जाय या फिर उसके मुखपृष्ठ पर 'सभा के अनुमोदन' की बात न छपा करे। घोष महोदय सम्पादक के कार्यों में हस्तक्षेप करने को तैयार न हुए और उन्होंने 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर 'सभा का अनुमोदन' छापना बन्द कर दिया। परन्तु सभा की इस नाराजी का 'सरस्वती' के प्रचार पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

इस घटना के बाद ही 'वैज्ञानिक कोष' की बात पर द्विवेदीजी का सभा के सूत्रधारों से भारी सङ्घर्ष छिड़ गया। इस सिलसिले में सभा ने उन्हें 'कुटिल' बताकर सभा की

सभ्यता से निकाल देने की उन्हें धमकी दी। इस पर द्विवेदीजी ने सभा को एक लम्बा-चौड़ा वक्तव्य लिखकर भेजा, साथ ही अप्रेल १९०७ की 'सरस्वती' में 'सभा की सभ्यता' शीर्षक एक लेख लिखा और उसमें सभा की अनियमता और स्वेच्छाचारिता का दिग्दर्शन कराया। यही नहीं, उन्होंने सभा के सञ्चालकों के विरुद्ध 'कौटिल्य-कुठार' शीर्षक एक बहुत बड़ा निबन्ध लिखा और उसकी एक प्रति सभा को भेज दी। मामला यहाँ तक बढ़ गया कि सभा के प्रमुख सूत्रधार बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'भारत-मित्र' में द्विवेदीजी के विरुद्ध लिखना शुरू कर दिया, जिसका उत्तर उन्होंने जून १९०७ के 'हिन्दी बङ्गवासी' में 'शीलनिधानजी की शालीनता' शीर्षक में दिया। अन्त में बाबू साहब ने १५ जून के 'भारत-मित्र' में द्विवेदीजी से क्षमा माँग ली। द्विवेदीजी ने बाबू साहब को क्षमा कर दिया। साथ ही उन्होंने 'कौटिल्य-कुठार' को पुस्तक-रूप में छापने का विचार भी छोड़ दिया, जिसकी उन्होंने सूचना दी थी। इस प्रकार हिन्दी के इन दोनों प्रधान पुरुषों का सङ्घर्ष समाप्त हो गया और दोनों महानुभाव पहले की तरह हिन्दी को समुन्नत करने के काम में फिर लग गये।

सन् १९०३ से सन् १९०९ तक द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन बड़ी लगन के साथ किया। इस काल में उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा भाषा-सम्बन्धी महत्त्व के प्रश्न उठाये, साथ ही खड़ी बोली की कविता के प्रचार को प्रोत्साहन दिया।

इसके सिवा साहित्य की वृद्धि के लिए उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा तरह-तरह के उपयोगी विषयों की चर्चा की। सारांश यह कि उन्होंने 'सरस्वती' को लोकोपयोगी तथा मनोरञ्जक सामग्री से अलंकृत कर उसे हिन्दी-प्रेमियों के गले का हार बना दिया। सन् १९०९ के समाप्त होते-होते 'सरस्वती' हिन्दी-भाषी प्रान्तों की ही नहीं, सारे उत्तर-भारत की एक सर्वोत्कृष्ट पत्रिका के रूप में समादृत हो गई। और इसका श्रेय द्विवेदीजी को दिया गया।

इस महत् कार्य को सफलतापूर्वक करते हुए द्विवेदीजी ने इस काल में कई छोटी-बड़ी पुस्तकें भी लिखीं। हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति, नाट्यशास्त्र, जल-चिकित्सा, विक्रमाङ्कदेवचरित-चर्चा, स्वाधीनता, संक्षिप्त महाभारत, शिक्षा और सम्पत्तिशास्त्र आदि की रचना उन्हीं दिनों हुई थी।

एक तो 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य ही उनके लिए कम परिश्रम का नहीं था। ऊपर से उन्होंने ये कई एक पुस्तकें भी लिखीं। यह सब करने में उनकी कीर्ति बेशक हुई, परन्तु साथ ही उनका स्वास्थ्य सदा के लिए बिगड़ गया। अन्त में डाक्टरों की सलाह से उन्हें साल भर के लिए छुट्टी लेनी पड़ी। लिखने-पढ़ने का काम बन्द करके उन्हें विश्राम करना पड़ा। सन् १९१० की 'सरस्वती' उनके मित्र पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल बी० ए० के सम्पादकत्व में निकलती रही।

# सरस्वती का गौरव

साल भर तक विश्राम करने से द्विवेदीजी का स्वास्थ्य बहुत कुछ सँभल गया। इससे सन् १९११ में उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य फिर अपने हाथ में ले लिया।

सन् १९११ की 'सरस्वती' में द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरङ्कुशता' नाम की लेख-माला छापी। इस लेख-माला का लोगों ने स्वागत किया परन्तु स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त के पट्टशिष्य पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने उक्त लेख-माला के विरोध में 'निरङ्कुशता-निदर्शन' नाम की एक लेख-माला 'भारत-मित्र' में लिखकर अपने गुरु की तरह द्विवेदीजी का पेटभर उपहास किया। चतुर्वेदीजी के लेख के प्रतिवाद-स्वरूप द्विवेदीजी ने अपनी लेख-माला के समर्थन में नामी-नामी विद्वानों की सम्मतियाँ 'सरस्वती' में छापीं। परन्तु काशी के 'इन्दु' में चतुर्वेदीजी की उक्त लेखमाला के विरुद्ध अजमेर के पण्डित शिवचन्द्र शास्त्री ने एक महत्त्वपूर्ण लेखमाला लिखकर द्विवेदीजी के पक्ष का समर्थन पाण्डित्यपूर्ण ढङ्ग से किया।

इसके बाद द्विवेदीजी ने सन् १९१३ की 'सरस्वती' में मिश्र-बन्धुओं के हिन्दी-नवरत्न नामक ग्रन्थ की कड़ी समालोचना की। यह लम्बी समालोचना 'सरस्वती' के दो अङ्कों में निकली थी। इस अवसर पर मिश्रबन्धुओं ने और उनके मित्रों ने द्विवेदीजी के विरुद्ध डटकर लिखा। परन्तु द्विवेदीजी उनके गाली-गलौज का कोई उत्तर न देकर चुप ही रहे।

इन दोनों कार्यों से 'सरस्वती' की लोकप्रियता की काफ़ी वृद्धि हुई। अतएव द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को और भी अप-टु-डेट बनाने का प्रयत्न किया। पाठ्य-सामग्री यथासम्भव समयोपयोगी ही दी जाने लगी तथा सुन्दर-सुन्दर चित्रों से विभूषित कर, पृष्ठ-संख्या बढ़ाकर तथा और भी अच्छा काग़ज़ लगाकर उसे हृदयग्राही और नयनाभिराम बना दिया। इस प्रकार उन्होंने सन् १९१७ तक 'सरस्वती' का सम्पादन बड़े अच्छे ढङ्ग से किया और 'सरस्वती' में जिस किसी का लेख या कविता छप जाती वह अपने को धन्य समझता। यही नहीं, वह हिन्दी का लेखक या कवि मान लिया जाता था।

'सरस्वती' उत्तरोत्तर उन्नति करके हिन्दी की एक आदर्श पत्रिका बन गई। उसकी इस सफलता एवं गौरव का श्रेय एकमात्र द्विवेदीजी को ही दिया गया, जिन्होंने उसके अभ्युदय के लिए अपना सब कुछ उस पर न्योछावर कर दिया था। अपना स्थान साहित्यकारों की श्रेणी में बनाने के लिए वे न तो कोई काव्य लिख सके, और न कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ही लिखने का प्रयत्न उन्होंने किया। यद्यपि सब कुछ सफलतापूर्वक कर गुज़रने की उनमें पूरी शक्ति थी, तथापि उन्होंने अपना सारा पुरुषार्थ एकमात्र 'सरस्वती' को समुन्नत करने में ही लगा दिया था और केवल 'सम्पादक' बनना ही उन्होंने अपने जीवन का ध्येय मान लिया था। 'सरस्वती' का कार्य वे इतनी लगन के साथ करते थे कि उन्हें अपना परलोक बनाने की प्रक्रिया से भी विरक्ति हो गई

थी। इसके लिए वे जो पूजा-पाठ पहले नियमपूर्वक किया करते थे वह सब छोड़-छाड़कर एक निष्ठा से वे 'सरस्वती' की सेवा में तन्मय हो गये थे।

द्विवेदीजी में व्यवस्था-प्रियता कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे समय के भी बड़े पाबन्द थे। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे 'सरस्वती' को उत्कृष्ट पत्रिका बनाकर एक सफल सम्पादक बन सके थे। उन्होंने 'सरस्वती' का अच्छे ढङ्ग से सम्पादन ही नहीं किया, उसको लोकोपयोगी और लोक-प्रिय बनाने में ही वे सफल-मनोरथ नहीं हुए, किन्तु वे अपनी कार्य-कुशलता और कर्तव्य-परायणता से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ पत्रकार भी हो गये। उग्र लेख छापकर वे सरकार की जेलों के अतिथि नहीं बने, यह सच है, परन्तु उन्होंने 'सरस्वती' की सेवा के लिए अपने वास-स्थान को ही जेल का रूप दे दिया था, जहाँ रहकर वे अहर्निश 'सरस्वती' की सेवा में संलग्न रहते थे।

द्विवेदीजी को परिश्रम करने का व्यसन था। पिछले बार की बीमारी से उन्होंने कुछ भी शिक्षा नहीं ली। इस बार भी उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे। मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीय आदि के अनुवाद इसी काल में लिखे गये थे और बड़े परिश्रम से लिखे गये थे। इस अतिरिक्त परिश्रम का जो परिणाम होना चाहिए था, वही हुआ। उनका स्वास्थ्य फिर गिर गया और ऐसा गिर गया कि उन्हें सन् १९१८ में दो वर्ष की छुट्टी लेनी पड़ी। अपने मित्र पण्डित देवीप्रसाद

शुक्ल बी० ए० को सरस्वती का सम्पादन-भार सौंपकर वे लिखने-पढ़ने के काम से विरत हो गये।

बुरी तरह स्वास्थ्य गिर जाने के कारण एक प्रकार से द्विवेदीजी अपने जीवन से निराश हो गये थे। पहले का उन्निद्र रोग तो था ही, अब एकाएक मूर्च्छित भी हो जाते थे। अपनी यह अवस्था देखकर उन्होंने 'सरस्वती' के काम से अलग हो जाने का निश्चय किया। उन्होंने अपनी जायदाद के प्रबन्ध के लिए एक ट्रस्ट भी बना दिया, क्योंकि उनके उत्तराधिकारी पण्डित कमलाकिशोर अभी बालिग़ नहीं हुए थे।

द्विवेदीजी ने सोचा था कि पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल 'सरस्वती' का काम चला ले जायँगे, अतएव अपने बाद वे शुक्लजी को ही 'सरस्वती' का सम्पादन-भार देना चाहते थे। परन्तु शुक्लजी 'सरस्वती' के लिए आवश्यक समय दे न सके। उधर महायुद्ध के कारण अन्य पत्र-पत्रिकाओं की तरह 'सरस्वती' के भी बहुत से ग्राहक टूट गये। काग़ज़ आदि का अभाव हो जाने से उसकी पहले की-सी सज-धज भी न रही थी। 'सरस्वती' का यह हाल देखकर उसके सञ्चालक घोष बाबू को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने द्विवेदीजी से आग्रह किया कि वे 'सरस्वती' को एक बार अपने हाथ में लेकर उसकी समुचित व्यवस्था करके पेंशन पर चले जायँ।

द्विवेदीजी ने सन् १९२० में 'सरस्वती' का उत्तरदायित्व फिर अपने हाथ में ले लिया, साथ ही उसके लिए उपयुक्त सम्पादक की

की खोज होने लगी। कई आदमियों के नाम लिये गये, पर द्विवेदीजी की निगाह में वे उपयुक्त नहीं जँचे। अन्त में 'सरस्वती' के संयुक्त सम्पादक की आवश्यकता का विज्ञापन छापा गया। इसके लिए जो प्रार्थना-पत्र आये उनमें श्री पदुमलाल पुन्नालाल ब.ख्शी बी० ए० पसन्द किये गये।

यथासमय ब.ख्शीजी बुलाये गये और उन्होंने कुछ महीनों तक संयुक्त सम्पादक के रूप में द्विवेदीजी के साथ काम किया। ब.ख्शीजी ने आकर 'सरस्वती' का काम सँभाल लिया। यह देखकर द्विवेदीजी को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने घोष बाबू को लिख दिया कि ब.ख्शीजी 'सरस्वती' का कार्य .खूबी के साथ कर लेंगे और अब वे उसके काम से अलग हो जाना चाहते हैं। घोष बाबू ने इस पर उनको ५०) मासिक पेंशन देने की व्यवस्था कर दी।

## सम्पादन से अवकाश-ग्रहण

सन् १९२१ में द्विवेदीजी अपने अत्यधिक प्रिय सम्पादन-कार्य से, जिसे अपना स्वास्थ्य तक गँवाकर अब तक उत्साह के साथ करते आये थे, अलग हो गये। अलग तो हो गये परन्तु उनका लिखना-पढ़ना बन्द न हो सका। 'सरस्वती' से उन्हें डेढ़ सौ रुपया मासिक वेतन मिलता था। पेंशन ले लेने पर उनकी आमदनी एक तिहाई रह गई, पर ख़र्च पहले जैसा ही बना रहा। अतएव आय की इस घटी की पूर्ति के

लिए उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखने पड़े। 'सरस्वती' के लिए वे प्रति मास दो लेख लिखते थे, जिनका पुरस्कार उन्हें तीस-पैंतीस रुपया प्रति मास मिलता रहा। 'सरस्वती' के सिवा 'आज', 'माधुरी' आदि के लिए भी वे लेख लिखते थे। परन्तु स्वास्थ्य की ख़राबी से दूसरे पत्रों में लिखना तो बन्द कर देना पड़ा, पर 'सरस्वती' के लिए सन् १९२८ तक वे लिखते रहे।

इस काल में द्विवेदीजी ने अनेक महत्त्वपूर्ण—साथ ही संख्या में बहुत अधिक—लेख लिखे। उनके जो २५-३० लेख-संग्रह पुस्तक-रूप में छपे हैं उनमें से अधिकांश की कलेवर-वृद्धि इसी समय के लेखों से हुई है।

परन्तु सन् १९३० में द्विवेदीजी का स्वास्थ्य एकदम बोल गया और उन्होंने लेखों का लिखना बन्द कर दिया, जिसका एक परिणाम यह हुआ कि स्वास्थ्य-चिन्ता के साथ-साथ उन्हें अर्थ की चिन्ता भी हो गई। वे अधीर हो उठे और अपना अर्थ-कष्ट दूर करने के लिए उन्हें अपने शुभचिन्तकों को टटोलना पड़ा। अन्त में रायगढ़-नरेश की उदारता से उनका अर्थ-कष्ट बहुत कुछ दूर हो गया और वे अपना निर्वाह लस्टम-पस्टम ढंग से करते रहे।

## मान-सम्मान

पेंशन ले लेने के बाद से द्विवेदीजी का हिन्दी के क्षेत्र से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह गया था। परन्तु वे ऐसे ही दूसरे

प्रसिद्ध लेखकों की तरह भुलाये नहीं जा सके। इसके विपरीत नवयुवक लेखकों में वे बराबर लोक-प्रिय बने रहे। लोगों ने एवं सन् १९३१ में काशी की सभा ने भी उनको हिन्दी का सर्वप्रथम 'आचार्य' मानकर सम्मानित किया। परन्तु कुछ लोग इतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। फलतः यह प्रस्ताव किया गया कि काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा, द्विवेदीजी के जीवन के ७०वें वर्ष में प्रवेश करने पर, उन्हें एक महत्त्वपूर्ण 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' भेंट करे। लोगों ने जब इस प्रस्ताव का एक-स्वर से समर्थन किया तब सभा ने उसे स्वीकार किया। आचार्य का सम्मान करने के विचार ने हिन्दी-प्रेमियों में इतना अधिक उत्साह भर दिया था कि प्रसिद्ध पत्रकार ठाकुर श्रीनाथसिंह ने यह प्रस्ताव किया कि प्रयाग का 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' भी आचार्य का इस अवसर पर अभिनन्दन करे और इसके लिए वह एक 'साहित्यिक मेले' का आयोजन करे।

फलतः सन् १९३३ के मई के प्रारम्भ में नागरी प्रचारिणी सभा एक महत्त्वपूर्ण जलसा करके ओड़छा-नरेश महाराज वीरेन्द्रसिंह-देव के सभापतित्व में द्विवेदीजी को एक अपूर्व अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया। उधर प्रयाग में महामहोपाध्याय डाक्टर गङ्गानाथ झा के सभापतित्व में 'द्विवेदी-मेला' लगा, जो अपने ढङ्ग का एक निराला जलसा हुआ। हिन्दी में इतना अधिक सम्मान पहले किसी लेखक का नहीं हुआ था। और होता भी कैसे ? जिस महान् कार्य के लिए यह सम्मान द्विवेदीजी का किया गया था

वह कार्य पहले किया ही किसने था? उसे तो द्विवेदीजी ने ही अपना सर्वस्व गँवाकर पूरा किया था! तब इस सम्मान का अधिकारी उनके सिवा और कौन हो सकता था? उन्होंने हिन्दी के उत्थान का जो महत्त्वपूर्ण कार्य छेड़ा था उसे अपने जीवन-काल में सफल होते देख लिया। यही नहीं; उन्हें अपने परिश्रमपूर्ण प्रयत्न का समुचित पुरस्कार भी मिल गया। ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति संसार में विरले ही देखे गये हैं।

बार-बार प्रयत्न किया गया कि द्विवेदीजी को 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' का सभापति बनाकर उनका सम्मान किया जाय। परन्तु उन्होंने उस पद को स्वीकार करने से सदा इनकार किया। इस सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कही गईं। किसी ने कहा कि वे इस बात से नाराज़ हैं कि सबसे पहले वही उसके सभापति क्यों नहीं बनाये गये, किसी ने यह कहा कि द्विवेदीजी का यह कहना है कि जिस सम्मेलन के सभापति लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) बनाये जा चुके हैं उसका सभापति बनकर वे अपमानित नहीं होना चाहते। परन्तु ये सब यार लोगों की कपोल-कल्पनायें थीं! वास्तव में उन्हें प्रदर्शन से घृणा थी और यह तो सभी को मालूम है कि उन्होंने जो कीर्ति पाई है, वह उन्हें स्वतः मिली है। उसके लिए उन्होंने न तो ख़ुद प्रोपेगण्डा किया, न उनके भक्तों ने ही कभी किया। उनको इन सब बातों से बहुत चिढ़ थी और वे कभी इन बातों के नज़दीक नहीं गये। और जो अभिनन्दन-ग्रन्थ उन्होंने

स्वीकार किया था वह भी बड़ा दबाव पड़ने पर ही। सभा के तत्कालीन प्रधान मन्त्री राय कृष्णदास उनके विशेष कृपापात्रों में थे। इधर ओड़छा-नरेश ने भी बड़ा आग्रह किया। अतएव वे उसके ग्रहण करने को लाचार हो गये। वे उस समय अस्वस्थ थे, परन्तु अपने नियत प्रोग्राम के अनुसार वे प्रयाग में उतर गये। यहाँ उनकी तबीयत ख़राब हो गई और काशी जाने में वे अगर-मगर करने लगे। 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' की भूमिका की चर्चा थी ही। यह उड़ा दिया गया कि भूमिका की कुछ बातों से द्विवेदीजी नाराज़ हो गये हैं और वे अभिनन्दन-ग्रन्थ लेने काशीजी नहीं जायँगे। यह ग़प काशी और प्रयाग दोनों जगह उड़ी थी, क्योंकि उक्त भूमिका की बातों का पता इन्हीं दोनों स्थानों के हिन्दी-प्रेमियों को था। जिस दिन द्विवेदीजी प्रयाग पधारे थे उसी दिन वह भूमिका छपी थी और उसकी एक प्रति उन्हें प्रयाग में दूसरे दिन पढ़ने को मिली थी। फलतः बाबू श्याम-सुन्दरदास और राय कृष्णदास दोनों महानुभाव ख़ुद इलाहा-बाद दौड़े आये और द्विवेदीजी से भेंट कर उनसे काशी चलने का आग्रह किया। यद्यपि उनकी तबीयत ठीक नहीं थी और उनकी घबराहट बढ़ गई थी, तो भी दोनों सज्जनों को इस प्रकार दौड़े आये देखकर उन्होंने काशी आने का वचन दे दिया। उनके चले जाने पर भूमिका की चर्चा छिड़ने पर द्विवेदीजी ने यही कहा कि भूमिका में जो कुछ बाबू साहब ने लिखा है, बहुत ठीक लिखा है, मुझे तो उसकी एक भी बात असंगत नहीं जान

पड़ती। वे दूसरे दिन काशी चले गये और वहाँ उन्होंने स्वागत-समारोह में भाग लिया।

इसके पहले द्विवेदीजी 'सम्मेलन' के कानपुर के अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष हुए थे तथा काशी की 'सभा' के वार्षिक अधिवेशन के सभापति भी। यह सब उन्होंने 'सम्मेलन' और 'सभा' के सूत्रधारों को सन्तुष्ट करने तथा जो ग़लतफ़हमी फैलाई गई थी उसको दूर करने के लिए किया था। यों वे सभा-समारोहों से सदा दूर भागते रहे।

'सम्मेलन' के प्राण बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन को द्विवेदीजी बहुत मानते थे, अतएव जब उन्होंने आग्रह किया तब द्विवेदीजी ने जीवन के अन्तिम दिनों में 'सम्मेलन' की 'साहित्य-वाचस्पति' उपाधि सादर ग्रहण की थी, यद्यपि वह सब उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होंने उस अवसर पर कहा था कि अब यह मेरे महाप्रस्थान का समय है, अतएव अपनी बात रखने के लिए मैं किसी का दिल नहीं दुखाऊँगा। अब तो मैं विश्वविद्यालय की डिगरी भी चुपचाप स्वीकार कर लूँगा। अभिनन्दन-ग्रन्थ दिये जाने के बाद इस बात की ज़ोरों के साथ चर्चा हुई थी कि प्रान्त का एक विश्वविद्यालय उन्हें डाक्टर की उपाधि देना चाहता है। इसकी ख़बर पाने पर द्विवेदीजी ने दृढ़ता के साथ अपनी अनिच्छा प्रकट की थी।

वास्तव में द्विवेदीजी इन सब बातों को तुच्छ समझते थे। वे तो काम के भूखे थे, जिसे वे बराबर करते रहते थे। उनके

उस काम में हिन्दी-सेवा का सबसे अधिक भाग था। प्रयाग में हुए 'सम्मेलन' के दूसरे अधिवेशन में वे गये थे। उसमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया था और यह कहा था कि हिन्दी के लेखकों को प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि वे प्रति वर्ष एक पुस्तक लिखेंगे। ऐसा करने से हिन्दी का रिक्त भण्डार बहुत शीघ्र पूर्ण हो जायगा। वे कहकर ही नहीं चले आये, किन्तु उन्होंने लगातार तीन-चार वर्ष एक नई पुस्तक अवश्य लिखी। रघुवंश, मेघदूत आदि ग्रन्थ इन्हीं दिनों लिखे गये थे। अन्त में जब उनका स्वास्थ्य बिलकुल ख़राब हो गया तब उन्होंने पुस्तकें लिखना बन्द कर दिया।

## लोक-सेवा

साहित्य-सेवा के सिवा द्विवेदीजी के जीवन की एक और विशेषता रही है जो उनके विराट् साहित्यिक प्रयत्न के आगे अधिक समय तक ओझल बनी रही। उनकी वह विशेषता उनकी लोक-सेवा की पुनीत भावना थी, जो उनके जीवन-काल के प्रारम्भ से ही उनमें विद्यमान थी। रेलवे में नौकर हो जाने पर जब उनकी वहाँ चलने लगी थी तब उन्होंने बहुतेरे बेकारों को ले-लेजाकर रेलवे में नौकरी दिलाई थी। इस प्रकार उन्होंने रेलवे में सैकड़ों व्यक्तियों की जीविका लगा दी थी। बाद को जब वे 'सरस्वती' में आ गये तब भी उनकी वह प्रवृत्ति बनी रही। इसके सिवा उनके मन में इस भाव का उदय हुआ कि

देहात के लोगों में भी कर्तव्य-बुद्धि और आत्मसम्मान का भाव जाग्रत् हो। परन्तु देहातों में तो सदा 'ज़बर्दस्त का ठेंगा सिर पर' रहा है। अतएव वे पञ्चायतें स्थापित करने का क़ानून बनवाने का यत्न करने लगे। परन्तु इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं मिली। इतना ही हुआ कि सरकार ने ग्राम-मुंसिफ़ों की अदालतें क़ायम करने की आज्ञा दे दी। जहाँ कुछ नहीं था वहाँ इतना ही बहुत है, यह सोचकर द्विवेदीजी ने सन्तोष किया और अपने गाँव दौलतपुर में मुंसिफ़ी क़ायम करवाई और ख़ुद ही मुंसिफ़ भी बने। यह सन् १९१८ की बात है जब वे 'सरस्वती' के कार्य से छुट्टी लेकर अपना स्वास्थ्य सुधार रहे थे। ग्राम-मुंसिफ़ बनकर उन्होंने देहात के लोगों को जो लाभ पहुँचाया उससे त्रस्तों ने उन्हें अपना त्राणकर्ता माना।

इसके बाद जब ग्राम-पञ्चायत का क़ानून बन गया, जिसके 'पास' करवाने में द्विवेदीजी वर्षों से लगे थे, तब उन्होंने दौलतपुर में उस क़ानून के अनुसार ग्राम-पञ्चायत क़ायम करवाई और उसके सरपञ्च वे ख़ुद बने। उन्होंने ग्राम-पञ्चायत के द्वारा अपनी जवार के लोगों की निष्पक्ष भाव से जो सेवा की उसकी क़द्र सरकार और प्रजावर्ग दोनों ने की। देहात के उद्दण्ड और सीनेज़ोर लोग निर्बलों और असहायों को निर्भय होकर सताते रहते थे। उनकी पञ्चायत ने उन बेचारों की, वहाँ के सरकश लोगों से, रक्षा करने का यत्न किया। पञ्चायत का कार्य वे अपने जीवन के अन्त तक बड़ी लगन के साथ

करते रहे। उनके निष्पक्ष फ़ैसलों की बड़ी प्रशंसा थी। ग्राम-मुंसिफ़ी और पञ्चायत का काम सुचारु रूप से करने के लिए उन्होंने बुढ़ापे में आवश्यक क़ानून की पुस्तकों का अध्ययन भी किया। फलतः उनके फ़ैसले बड़े चौकस होते थे। यहाँ तक कि अपील होने पर उनके फ़ैसले कभी नहीं रद्द किये गये। उनके फ़ैसले से वादी और प्रतिवादी दोनों ही सन्तुष्ट रहते थे। वे मामलों का फ़ैसला करते भी थे बड़ी छानबीन के बाद।

पेंशन ले लेने के बाद द्विवेदीजी स्थायी रूप से अपने गाँव में रहने लगे थे। गाँववालों तथा पड़ोस के गाँवों की सुविधा के लिए उन्होंने दौलतपुर में डाकघर, प्रायमरी स्कूल, काँजी हौस, औषधालय आदि खुलवाये। अपने गाँव के सामने, गङ्गापार करने के लिए, नाव का घाट भी क़ायम करवाया। उनके इन लोकोपयोगी कार्यों से उस जवार के लोगों को तरह-तरह के सुभीते हो गये और सभी लोग उन्हें आशीर्वाद देने लगे।

परन्तु साहित्य-रचना के अपने प्रिय कार्य से विरत होकर जहाँ द्विवेदीजी उपर्युक्त लोक-सेवा के कामों में संलग्न थे, वहाँ वे अपनी प्यारी हिन्दी को एक क्षण के लिए भी भुला नहीं सके थे। वे हिन्दी के लेखकों से पत्र-व्यवहार-द्वारा अपना सम्पर्क बराबर बनाये रहते थे। यही नहीं, दूर दूर से हिन्दी-प्रेमी उनके दर्शनार्थ उनके गाँव प्रायः आया करते थे। कितने ही लेखक पत्र-द्वारा उनसे आशीर्वाद की याचना करते और वे उनके प्रोत्साहन के लिए संस्कृत में आशीर्वादात्मक श्लोक बनाकर उन्हें

लिख भेजते। ऐसे श्लोक उन्होंने सैकड़ों की संख्या में बनाये होंगे। हिन्दी और हिन्दीवालों के प्रति उनकी प्रीति बराबर बनी रही। उन्हें हिन्दी और उसके लेखकों की चर्चा बहुत पसन्द थी। वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी हिन्दी की हितकामना ही करते रहे।

## हिन्दी-सेवा

द्विवेदीजी सदा के लिए हम लोगों के बीच अपना नाम छोड़ गये हैं। जब तक इस देश में हिन्दी का पठन-पाठन होता रहेगा, तब तक उनका नाम आदर के साथ लिया जायगा। उन्होंने हिन्दी में वैसे महत्त्व का काम ही किया है। यद्यपि एक लम्बे समय तक उनकी जान-बूझकर उपेक्षा की गई और कुछ लोग उनको गिराये रखने के लिए यत्नशील रहे, तथापि अन्त में उन्हें हार माननी पड़ी और उन्हीं को सबसे पहले आगे आकर उनका महत्त्व ही नहीं स्वीकार करना पड़ा, किन्तु लाचार होकर उन्हें हिन्दी का सर्व-प्रथम आचार्य कहकर सम्मान देना पड़ा।

द्विवेदीजी ने केवल भाषा का सुधार तथा उसके साहित्य का संस्कार ही नहीं किया, किन्तु उसके प्रसार के लिए उन्होंने एक नहीं अनेक लेखक, कवि एवं ग्रन्थकार तैयार किये, जिनके सामूहिक प्रयत्न से हिन्दी कुछ ही काल में कुछ का कुछ हो गई। उनके अपने पुरुषार्थ, अपनी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से हिन्दी

का क्षेत्र ऐसा जगमगा उठा कि उसका अपना एक अलग इतिहास ही हो गया। यह सब काम उन्होंने उस समय कर दिखाया जब हिन्दी की पूछ नहीं थी, बरन उसके बोलनेवाले तक उसकी उपेक्षा करते थे।

कहा जाता है कि बँगला के प्रसिद्ध लेखक श्री रमेशचन्द्र दत्त एक बार पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से मिलने गये। विद्या-सागर ने उनसे कहा कि आपने अँगरेज़ी में तो कई पुस्तकें लिखी हैं, कुछ बँगला में भी लिखिए। रमेशचन्द्र दत्त ने उत्तर दिया—मुझे बँगला में लिखने का अभ्यास नहीं है। विद्या-सागर ने कहा—जो विदेशी भाषा में लिख सकता है, वह मातृभाषा में भी लिख सकता है। लिखने की चेष्टा कीजिए। रमेश बाबू ने बँगला में लिखना शुरू किया और वे बँगला के एक नामी लेखक हो गये।

द्विवेदीजी भी प्रोत्साहन देने में हिन्दी के 'विद्यासागर' थे। उन्होंने भी हिन्दी में कितने ही रमेशचन्द्र दत्त पैदा किये। उनसे पहले अँगरेज़ी के पदवीधारी हिन्दी में बहुत कम लिखते थे। पर उन्होंने बहुतेरों को प्रोत्साहन देकर हिन्दी में लिखने को बाध्य किया। नये लेखकों के लेखों को, शब्दों और वाक्यों के हेर-फेर से, वे ऐसा सुन्दर बना देते थे कि उसमें सजीवता आ जाती थी। कभी कभी तो वे लेख की रूपरेखा ही बदल देते थे। उन्होंने अपने समय के विद्वानों को हिन्दी में लिखने के लिए बाध्य किया। इसी प्रकार अपने समय के प्रतिभाशाली

सुलेखकों को भी समुचित प्रोत्साहन दिया, यहाँ तक कि हिन्दी के कवियों और लेखकों की एक फ़ौज की फ़ौज खड़ी हो गई। नवयुवक लेखकों का सहयोग प्राप्त करने को तो वे सदैव प्रस्तुत और उत्सुक बने रहे। उन्हें कुछ ही दिनों में द्विवेदीजी ऐसा सीधा रास्ता बता देते थे कि वे लोग अनायास ही लिखने लग जाते थे और सो भी सुन्दर और उपयोगी। इस प्रकार उन्होंने सैकड़ों की संख्या में लेखक तैयार कर दिये, जिनकी सुघर रचनाओं से हिन्दी का रिक्त भाण्डार पूर्ण हो गया।

इस प्रकार द्विवेदीजी ने हिन्दी की महान् सेवा की। यही नहीं, उन्होंने स्वयं गद्य और पद्य दोनों में लिखा और ख़ूब लिखा। पद्य के क्षेत्र में उन्होंने नये नये विषयों पर कविता लिखने का आदर्श उपस्थित किया, साथ ही उसे भाषा के बन्धन से भी मुक्त कर दिया। सन् १८९८ में उन्होंने कुमारसम्भव के पाँच सर्गों का पद्य में, बोलचाल की भाषा में, अनुवाद किया था और तब से लाख विरोध होने पर भी वे बोलचाल की भाषा में ही कविता लिखते रहे; साथ ही दूसरों को भी प्रोत्साहन देते रहे। उनके इस प्रयत्न का सुफल सात-आठ वर्ष के भीतर ही प्रकट हो गया। उन दिनों जो भी कविता लिखना शुरू करता, बोलचाल में ही लिखता। यहाँ तक कि पहले के ब्रजभाषा के भी कुछ कवि बोलचाल में लिखने लगे। बोलचाल की भाषा में कविता लिखने का ऐसा रङ्ग बँध गया कि उसमें लिखनेवाले कवियों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि ही नहीं हो गई, किन्तु

उनमें कई एक उत्कृष्ट कवि माने जाने लगे। 'सरस्वती' के द्वारा द्विवेदीजी ने बोलचाल की भाषा की कविता को ऐसा प्रोत्साहन दिया कि चारों ओर बोलचाल की कविता फैल गई और ब्रजभाषा में कविता का लिखा जाना बन्द सा हो गया। इस प्रकार उन्होंने इस प्रयत्न में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की।

पहले-पहल सन् १८८५ में श्री अयोध्याप्रसाद खत्री ने बोल-चाल की भाषा में कविता लिखने का आन्दोलन उठाया था। परन्तु पण्डित प्रतापनारायण मिश्र जैसे हिन्दी के महारथियों के विरोध के आगे उनका आन्दोलन टिक न सका। उनके बाद जब द्विवेदीजी ने इस दिशा में प्रयत्न किया तब विरोधी लोग उन्हें नहीं दबा सके और 'सरस्वती' के द्वारा वे अपने प्रयत्न में सफलमनोरथ हो गये।

प्रारम्भ में द्विवेदीजी ने ब्रजभाषा में ही कवितायें लिखी थीं। परन्तु सन् १८९२ के बाद से १९०० तक उन्होंने जो कवितायें लिखी हैं उनमें बोलचाल की ध्वनि स्पष्ट रूप से मिलती है। और, १९०० से तो उन्होंने विशुद्ध बोलचाल में ही कवितायें लिखीं, और अन्त तक उसी में लिखते रहे।

द्विवेदीजी ने कोई काव्य नहीं लिखा है। या तो संस्कृत की पुरानी रचनाओं का पद्यात्मक अनुवाद किया है या विभिन्न विषयों पर फुटकर कवितायें लिखी हैं। उनकी फुटकर रचनायें संख्या में कम नहीं हैं, साथ ही वे काफ़ी अधिक सुन्दर भी हैं। जिन्हें कविता से प्रेम है वे उनकी रचनाओं को रुचि के साथ

पढ़ते हैं। यह सच है कि उन्होंने अपनी कविताओं में आकाश-पाताल के कुलाबे नहीं मिलाये हैं, केवल सीधी-सादी शैली में कवित्वपूर्ण ढङ्ग से अपने हृद्गत विचारों को चित्रित किया है। इस प्रकार उन्होंने कविता की पुरानी परिपाटी के बदलने का जो प्रयास किया उसने उसमें आमूल परिवर्तन कर दिया, जिससे हिन्दी-कविता की काया ही पलट गई।

इसी प्रकार द्विवेदीजी ने गद्य में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। इसके लिए 'सरस्वती' को उन्होंने एक प्रकार की पाठ-शाला का रूप दे दिया था। कितने ही विद्यार्थियों को उसके दफ़्र में हिन्दी लिखना ही नहीं सिखलाया जाता था, किन्तु यह भी कि उन्हें क्या क्या लिखना चाहिए। और वह सब उन्होंने स्वयं लिखकर उन्हें लिखना बताया। इसके लिए उन्हें वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, विचारात्मक आदि तरह-तरह के लेख लिखने पड़े। अपनी संस्कृति, अपनी कला एवं अपनी सभ्यता का समुचित पाठ पढ़ाने के लिए भी उन्हें लेखनी चलानी पड़ी। इस प्रकार अनेकानेक विषयों के अपने सजीव लेखों तथा ग्रन्थों से उन्होंने नवयुवक लेखकों के लिए ऐसी शाह राह खोल दी कि उन्हें उसका अनुसरण करने से साहित्य-रचना के कार्य में बड़ी जल्दी सफलता प्राप्त हो गई। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में सुलेखकों की एक सेना तैयार हो गई, जिनकी रचनाओं से कुल १५ वर्ष के भीतर ही हिन्दी का क्षेत्र लहलहा उठा। जो क्षेत्र पहले शून्य पड़ा था, जहाँ सजीवता

का चिह्न तक नहीं देख पड़ता था, वही क्षेत्र नवयुवकों की साधु-रचनाओं से मुखरित हो उठा। किसी ने कहानियाँ लिखीं, किसी ने नाटक लिखे तो उधर इतिहास, पुरातत्त्व, जीवनचरित, ज्ञान-विज्ञान, अर्थशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि नाना विषयों के अभावों की पूर्ति की गई। शुद्ध और सुघर लिखने का आदर्श उन्होंने उपस्थित कर ही दिया था; क्या क्या लिखना होगा, यह खुद ही लिखकर बता दिया था। ऐसे उदार, परिश्रमी, एवं सहृदय शिक्षक को पाकर उत्साही नवयुवक लेखकों ने चारों ओर से आकर उन्हें घेर लिया, जिसका यह फल हुआ कि हिन्दी का रिक्त भण्डार तरह-तरह के रचना-रत्नों से देदीप्यमान हो गया।

द्विवेदीजी ने हिन्दी के गद्य के सिलसिले में जो भारी काम किया है वह उनके पद्य-सम्बन्धी क्रान्तिकारी कार्य की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी गद्य की रचनायें उनकी अपनी अनूठी चीज़ें हैं। यहाँ तक कि उन्होंने जो अनुवाद किये हैं वे मूल से भी अपनी सुन्दरता में आगे निकल गये हैं। भाषा और शैली पर उनका पूर्ण अधिकार था, बरन यह कहना ठीक होगा कि उन्होंने भाषा और शैलियों का निर्माण किया। वे जो कुछ लिखते, अपना बनाकर लिखते, जिससे उनकी रचना में नये प्राणों का सञ्चार हो जाता। उनकी सभी रचनायें भाषा की सजीवता एवं शैली की प्राञ्जलता के साथ साथ तथ्य के निरूपण से पूर्ण हैं।

परन्तु द्विवेदीजी की इन विशेषताओं का संकेत कर देने से उनकी विशिष्टता का पूर्ण परिचय नहीं मिलेगा। इसके लिए तो हिन्दी के सारे वर्तमान साहित्य के अध्ययन की ज़रूरत है। हिन्दी पर उनकी प्रतिभा का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा है। उन्होंने उत्कृष्ट रचनाओं की ही सृष्टि नहीं की, भविष्य के लेखकों के लिए आवश्यक आदर्श ही नहीं उपस्थित किया, किन्तु अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ को प्रकट कर हिन्दी के क्षेत्र में ऐसे वायुमण्डल की रचना की कि उससे मानों हिन्दी ने नया ही जन्म पाया। उसकी रूप-रेखा, उसकी शैली और सबसे अधिक उसकी संस्कृति सब की सब एक साथ नये रूप में अस्तित्व में ही नहीं आ गई, किन्तु देश की भाषाओं के बीच उसकी अपनी अलग प्रतिष्ठा भी हो गई। कितना असाधारण कार्य है। और द्विवेदीजी ने यही कार्य करके सफलता पाई है।

## पत्रकार

हिन्दी के आलोचकों ने द्विवेदीजी की रचनाओं की जाँच-पड़ताल करके यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें स्थायित्व नहीं है। उनका यह कथन ठीक हो सकता है; क्योंकि उन्होंने उलटी परीक्षा की है। द्विवेदीजी न तो कवि थे, न मौलिक ग्रन्थकार। यह सच है कि उन्होंने साहित्य के इन क्षेत्रों में भी अपनी अनूठी प्रतिभा का विशेष रूप से परिचय दिया है। वास्तव में यदि वे कुछ थे तो, केवल पत्रकार थे और सो भी अपने

समय के हिन्दी के सबसे बड़े पत्रकार। वे बड़े ज़ोरदार लेखक थे और मौक़े की बात लिखने में अपना सानी नहीं रखते थे। वे सदा समय के साथ रहे।

'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण करने पर द्विवेदीजी सम्पादन-कार्य में भी उत्कृष्टता प्राप्त करने को यत्नशील हुए थे। अभी तक तो वे अपनी इच्छा के अनुसार ही लिखते-पढ़ते रहे थे और सम्पादक हो जाने पर भी उनकी यह प्रवृत्ति वर्षों तक आगे भी बनी रही। परन्तु उन्हें सम्पादन-कार्य का ज्यों ज्यों अधिकाधिक अनुभव प्राप्त होता गया, उन्होंने अपनी वह प्रवृत्ति छोड़ दी और एक विशुद्ध पत्रकार की पद्धति को ग्रहण कर लिया। उनके इस रूप के दर्शन हमें सन् १९१३ से मिलते हैं। इसके बाद उनके इस महत्त्वपूर्ण रूप का विशद रूप से विकास हुआ और वे इस क्षेत्र के प्रधान व्यक्ति हो गये।

एक सम्पादक की हैसियत से द्विवेदीजी 'सरस्वती' को लोकप्रिय बनाने में तो बहुत पहले ही सफल हो गये थे। उसके बाद सम्पादन-कला में भी उन्होंने उसी प्रकार कीर्ति प्राप्त की। उन्होंने साहित्यिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रवृत्तियों पर समुचित प्रकाश डालकर हिन्दी के प्रेमियों में उनके प्रति अनुराग पैदा किया। भिन्न भिन्न सामयिक प्रश्नों पर उनकी विचारपूर्ण टीका-टिप्पणियों का लोगों पर प्रभाव पड़ता था और तद्विषयक जो सूचनायें वे दिया करते थे उनसे उन उन क्षेत्रों के कार्य-कर्ताओं को मार्ग का निर्देश होता था। इस

महत्त्वपूर्ण कार्य का सम्पादन उन्होंने इतने अधिक अध्यवसाय से किया और उन्हें अपने कार्य में ऐसी सफलता मिली कि 'सरस्वती' द्विवेदीजी की कही जाने लगी। वे उसका सम्पादन इतने उत्कृष्ट ढङ्ग से करते कि लोग हर महीने 'सरस्वती' के निकलने की राह देखते रहते थे। 'सरस्वती' को उन्होंने अपने घोर परिश्रम से ऐसा ही उत्कृष्ट बना दिया था। और अपनी इस महत् कृति के कारण वे हिन्दी के अपने समय के सर्वश्रेष्ठ आदर्श सम्पादक माने गये। द्विवेदीजी का यदि कोई मूल्य है तो वह उनकी सम्पादन-कला है।

## पाण्डित्य

द्विवेदीजी यद्यपि व्यवस्थित रीति से शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके थे, तथापि विद्या से स्वाभाविक प्रेम होने के कारण उसे प्राप्त करने की लगन उनमें बराबर बनी रही और उन्होंने निजी तौर पर कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। संस्कृत और अँगरेज़ी का उन्होंने विशेष रूप से अध्ययन किया था और इन दोनों के लिखने और बोलने में पूरी योग्यता प्राप्त की थी। इन भाषाओं के दर्शन-ग्रन्थों एवं काव्य-ग्रन्थों का भी उन्होंने गम्भीरता के साथ अध्ययन किया था। यही नहीं, उन्होंने अपने अधीत विषयों को किसी न किसी रूप में हिन्दी को अर्पण करने में कभी भूल नहीं की। अपने व्यापक पाण्डित्य के कारण ही वे 'सरस्वती' को हिन्दी

की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका बनाने में सफल हुए थे। उनके समय में हिन्दी में जितने सम्पादक या लेखक थे, बहुज्ञता एवं अनुभव में उनकी बराबरी का एक भी नहीं था।

द्विवेदीजी में प्रतिभा भी विलक्षण थी। उनकी धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी। सम्पूर्ण रामचरितमानस, रघुवंश, मेघ-दूत, अधिकांश किरातार्जुनीय और नैषध उन्हें मुखस्थ था। हिन्दी के सैकड़ों कवित्त तथा संस्कृत के सैकड़ों श्लोक उन्हें याद थे। इसी तरह बँगला, मरहठी, गुजराती, फ़ारसी और उर्दू की भी कवितायें एवं सूक्तियाँ उन्हें कण्ठ थीं। वे वास्तव में पाण्डित्य के आगार थे। और यह सारा का सारा ज्ञानार्जन उन्होंने सन् १८८५ से लेकर सन् १८९६ के भीतर अर्थात् कुल १२ वर्ष के लगातार अध्ययन के द्वारा किया था। यही नहीं, उसके बाद भी उनका अध्ययन बराबर जारी रहा। यहाँ तक कि अपनी ढलती उम्र में भी वे अपने गाँव के पड़ोस के एक वृद्ध साहित्य-शास्त्री के पास नित्य तीन मील पैदल चल-कर कुवलयानन्द पढ़ने जाया करते थे। जो भी बात उनके सामने आ जाती थी और वे उसे जानते न होते थे तो बिना उसका आदि-अन्त जाने चैन नहीं लेते थे। उनके भानजे कमला-किशोर को एक बार उन्माद का विकार हो गया था। उधर उसकी दवा होने लगी, इधर द्विवेदीजी ने उन्माद के सम्बन्ध में चरक-सुश्रुत आदि ग्रन्थों का पारायण कर डाला। कमलाबाबू की बड़ी बहन की शादी होने को थी, अतएव विवाह-पद्धति आदि को एक

बार पढ़ जाना उन्होंने अपने लिए आवश्यक समझा। ज्ञानार्जन करने का उनमें ऐसा ही उत्साह था और उनका यह उत्साह उनके जीवन के अन्त तक बना रहा।

द्विवेदीजी के समय में हिन्दी में विद्वानों की यद्यपि अधिकता नहीं थी, तो भी जो थोड़े-बहुत थे उनमें से दो-चार को छोड़कर और कोई भी अपना ज्ञान-भाण्डार उनकी तरह हिन्दी को नहीं दे सका। उनकी प्रतिभा की यही एक विशेषता थी कि वे अपने सारे ज्ञान-भण्डार को हिन्दी के लिए पूर्ण रूप से अर्पित कर सके। इसी का यह परिणाम हुआ कि एक समय जिस हिन्दी की बात तक न पूछी जाती थी वही प्रान्तीय भाषाओं में एक उन्नत भाषा मानी जाने लगी और दो-एक भाषाओं के उत्कृष्ट प्रेमियों के लिए तो वह ईर्ष्या की वस्तु हो गई।

## लोक-संग्रह

द्विवेदीजी घर-घमण्डी पण्डित नहीं थे। अपने समय के विद्वानों से मिलते-जुलते रहने की उनमें काफ़ी अधिक प्रवृत्ति थी। समय मिलने पर वे लोगों के यहाँ आते-जाते रहते थे। इसके लिए वे दूर-दूर की यात्रा भी करते थे। 'सरस्वती' के सम्पादक बनने के पहले ही वे अपने समय के अनेक विद्वानों से परिचित हो गये थे। पण्डित मथुराप्रसाद मिश्र, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित श्रीधर पाठक, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पण्डित मदनमोहन

मालवीय आदि आदि अनेक विद्वानों के परिचय में वे आ गये थे। वे काशी, प्रयाग, आगरा, अजमेर, कानपुर, लखनऊ आदि नगरों को प्रायः आया-जाया करते थे और वहाँ के हिन्दी-प्रेमियों के घर जाकर उनसे भेंट करते थे। इसमें वे छोटे-बड़े का विचार नहीं करते थे। उदाहरण के लिए 'सुदर्शन' के सम्पादक का उल्लेख किया जा सकता है। जिन दिनों 'सुदर्शन' निकला था, उनका काशी जाना हुआ। उन्होंने सुदर्शन-सम्पादक के घर जाकर उनसे भेंट की। यद्यपि सुदर्शन-सम्पादक उस समय नवयुवक ही थे, तो भी उनका हिन्दी-प्रेम एवं उनकी प्रतिभा को देखकर द्विवेदीजी ने अपनी नव-प्रकाशित 'नैषध-चरित-चर्चा' की एक प्रति भी उनको भेंट में दी थी।

बाद को जब द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक हो गये और रेलवे की नौकरी छोड़कर कानपुर में जाकर रहने लगे तब ये यात्रायें जल्दी जल्दी होने लगीं और हिन्दी-प्रेमियों से उनका परिचय अधिकाधिक बढ़ने लगा। दूर होने के कारण जिन लोगों के यहाँ जाकर वे भेंट नहीं कर सकते थे उनका परिचय पत्र-व्यवहार-द्वारा प्राप्त किया। 'सरस्वती' में लेख छपवाने के लिए नवयुवकों का समूह भी उनके पास एकत्र होने लगा। इसका फल यह हुआ कि उनके देश के होनहार नवयुवक उनके सम्पर्क में अधिकाधिक संख्या में आते गये और अपने सद्-व्यवहार के द्वारा वे उनके बीच लोकप्रिय हो गये।

पिछले दिनों जब द्विवेदीजी 'सरस्वती' का सम्पादन छोड़कर अपने गाँव दौलतपुर में जाकर रहने लगे थे तब वहाँ भी उनके दर्शनाभिलाषी हिन्दी-प्रेमी आते-जाते रहे। लोक-संग्रह की उनमें ऐसी ही अनोखी प्रवृत्ति थी। सन् १८९६ से १९३८ तक हिन्दी के जो प्रेमी रहे हैं, शायद ही उनमें से ऐसे कुछ लोग निकलें जो किसी न किसी रूप में उनके सम्पर्क में न आये हों। और जो भी एक बार उनके सम्पर्क में आ गया वह सदा के लिए उनका हो गया। इस बात में भी उनकी तुलना में हिन्दी के किसी भी महारथी का नाम नहीं लिया जा सकता। वास्तव में न उनके पहले, न उनके समय में ही हिन्दी के क्षेत्र में एक भी ऐसा व्यक्ति हुआ है जो उनकी तरह हिन्दीवालों के इतना अधिक समीप आ सका हो। इसका कारण यही था कि वे स्वभाव से लोक-संग्रही थे। स्वदेश के अन्य प्रान्तों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों से पत्र-व्यवहार द्वारा वे परिचित तो हो ही गये थे, उन्होंने विदेशों के भी कुछ विद्वानों का परिचय प्राप्त किया था।

और पढ़े-लिखों, विद्वानों या राजा-रईसों के ही सम्पर्क में द्विवेदीजी आते रहे हों, सो बात नहीं थी। वे उसी प्रकार निश्छल भाव से अपढ़ों एवं वज्र देहातियों से भी मिलते थे और उनके सुख-दुःख में क्रियात्मक रूप से भाग लेते थे।

द्विवेदीजी के घर में कुल दो प्राणी थे। एक वे और दूसरे उनकी पत्नी। तो भी उन्होंने अपने घर को अपने सम्बन्धियों

से भर लिया था। यहाँ तक कि उनके जीवन के अन्त तक वह बराबर भरा ही रहा। यदि उनमें से किसी की मृत्यु हो जाती थी तो किसी दूसरे सम्बन्धी को बुलाकर घर में रख लेते थे। इस प्रकार वे मृत व्यक्ति के अभाव की पूर्ति करते थे। और वे अपने इन कुटुम्बियों के साथ बिना भेदभाव के अपने कुटुम्ब के प्राणी जैसा ही व्यवहार करते थे। 'जन' की प्रीति उनमें असाधारण मात्रा में थी। क्या घर के बाहर, क्या घर के भीतर वह समान रूप से बराबर छलकती रही। ऐसे व्यक्ति को यदि कोई यह कहे कि उनका बाहर के संसार से सम्बन्ध भंग था अतएव उनमें चिड़चिड़ापन आ गया था और वे लोगों के सम्पर्क में आने से घबराते थे तो यही कहना ठीक होगा कि ऐसा कहने-वाले की निरीक्षण-शक्ति विकार-ग्रस्त होगी, क्योंकि लोक-संग्रह में वे अपने समय के ऊँचे से ऊँचे लोक-नेता के समकक्ष पहुँचते हैं और यह गौरव भी हिन्दी के लेखकों में एक उन्हीं को प्राप्त हुआ था।

## स्वभाव

द्विवेदीजी स्वभाव से बड़े मृदुल और दयालु थे। उन्हें कभी कभी क्रोध आ तो जाता था, परन्तु बात की बात में वह उसी तरह काफ़ूर भी हो जाता था। वे बड़े परोपकारी और बात के धनी भी थे। रेलवे में नौकरी करते समय उन्होंने सैकड़ों आदमियों को ले जाकर जीविका से लगा दिया

था। उसके बाद भी उनकी यह प्रवृत्ति जैसी की तैसी बनी रही। किसी को जीविका से लगा पाने पर उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता था। अपने कुटुम्बियों और सम्बन्धियों की एवं उसी तरह ग़ैरों की भी वे आजीवन सहायता करते रहे। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह भी रही है कि उन्होंने जो कुछ भी किसी के साथ किया उसकी कभी भूलकर चर्चा तक नहीं की।

अन्त में उन्होंने कदाचित् अपनी सारी पूँजी काशी के 'हिन्दू हाई स्कूल' को एक विद्यार्थी को छात्रवृत्ति देने को तथा नागरीप्रचारिणी सभा, काशी को प्रतिवर्ष किसी हिन्दी-लेखक को पुरस्कृत करने के लिए—दान कर दी। उन्होंने अपनी पुस्तकों का संग्रह भी उक्त सभा को दे दिया।

कुछ लोगों ने द्विवेदीजी को अहङ्कारी और क्रोधी बताया है। जो लोग उनके सम्पर्क में कभी नहीं आये वे उनकी खरी-खरी बातों और मुँहतोड़ उत्तरों से उन्हें क्रोधी या अहङ्कारी अनुमान कर सकते हैं। पर जो उनके सम्पर्क में आ चुके हैं उन्होंने उन्हें विनम्र, विनीत और सुशील ही बताया है। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि वे बड़े निश्छल और साफ़ दिल के आदमी थे। हाँ, लल्लो-चप्पो करना नहीं जानते थे। वे छोटे-बड़े सब किसी से खुले दिल से मिलते थे और जो भी उनसे उन्हीं की तरह निष्कपट भाव से मिलता था उसके वे सेवक हो जाते थे और सदा उसकी हित-कामना में लगे रहते थे।

द्विवेदीजी में जहाँ ममता थी, वहाँ उनमें वैसा ही त्याग का भाव भी था और इन अपने दोनों भावों का उन्होंने सदैव सदुपयोग ही किया है। ममता के द्वारा उन्होंने ग़ैरों को अपना बनाया और त्याग की भावना से अपना सब कुछ, अपने जीते-जी, दूसरों को दे डाला। ऐसे व्यक्ति को क्रोधी और अहंकारी बताना सचमुच बड़े साहस का काम है।

हाँ, द्विवेदीजी स्वाभिमानी और साथ ही निर्भीक भी प्रथम श्रेणी के थे। यदि अपने इन पुरुषोचित गुणों के कारण वे क्रोधी और अहङ्कारी बताये गये हों, तो ठीक है। वे सचमुच परले दर्जे के स्वाभिमानी और निडर थे और उनके प्रदर्शन का जब-जब अवसर आया, उन्होंने किसी की कुछ भी परवा नहीं की। यहाँ तक कि स्वाभिमान की रक्षा के लिए उन्होंने हानि तक उठाई है।

द्विवेदीजी जाति से ही नहीं, गुण-कर्म से भी पूरे ब्राह्मण थे। वे आस्तिक ही नहीं, ज्ञानी पुरुष भी थे। यों देखने में वे संसार के मोह-ग्रस्त एक साधारण प्राणी से जान पड़ते थे, परन्तु वास्तव में वे एक कर्तव्यनिष्ठ और श्रद्धालु व्यक्ति थे। प्रारम्भ में उन्होंने रामचरितमानस और ब्रजविलास का वर्षों तक पारायण किया था। यही नहीं, वर्षों तक सन्ध्या-वन्दन और दुर्गा-सप्तशती का नियमपूर्वक पाठ भी किया था। किन्तु 'सरस्वती' के सम्पादक हो जाने पर समयाभाव से, या उनकी भावधारा में कोई परिवर्तन आ गया हो इस कारण, चाहे जो

बात रही हो उन्होंने वह सब छोड़ दिया था। तो भी भगवद्भक्ति का रसानन्द लेने का समय वे बराबर निकाल लेते थे। उनकी यह प्रवृत्ति उनके जीवन के अन्तकाल तक जैसी की तैसी बनी रही। एक ओर उनकी संसारी मनोवृत्ति का रूप दिखाई देता था तो दूसरी ओर वे भक्ति-रस-पूर्ण स्तुतियों को पढ़-पढ़कर भक्तिभाव में अश्रुपात करते हुए देखे जाते थे।

द्विवेदीजी पक्के सनातनी थे। एक आस्तिक हिन्दू-गृहस्थ के घर में जो कुछ होता है वह सब उनके घर होता था। वे रूढ़िवादी नहीं थे, यह सच है; परन्तु समाज की परिपाटी की मर्यादा की उन्होंने यथासम्भव रक्षा ही की है। गृहस्थ-धर्म के कर्तव्यों का पालन करने से उन्होंने कभी मुख नहीं मोड़ा। बहुत पहले कुछ लोगों ने उन्हें नास्तिक कहकर उनकी निन्दा की थी। उसका उत्तर उन्होंने संस्कृत में एक करुण-रस-पूर्ण स्तोत्र लिखकर दिया था। उनका वह 'किं अहं नास्तिकः' नामक स्तोत्र उनकी धार्मिक भावना का प्रतीक है। उनका वह सुन्दर स्तोत्र इस बात का प्रमाण है कि वे सच्चे अर्थ में पूर्ण ब्राह्मण थे और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की साधना उन्होंने एक ज्ञानी साधक की ही भाँति की है।

परन्तु द्विवेदीजी ने रूढ़ियों का पालन करते हुए भी सुधार की बातों को बड़े सुन्दर ढङ्ग से ग्रहण किया था। उनके घर में स्त्रियों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी। वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से जाति के खान-पान-सम्बन्धी नियमों के क़ायल नहीं थे।

विधवा-विवाह आदि बातों के समर्थक थे। यह सब तो था, परन्तु उन्होंने अपने विचारों का प्रदर्शन कभी नहीं किया और वे समाज के नियमों को सनातनी ब्राह्मण की ही तरह ग्रहण किये रहे।

द्विवेदीजी स्वभाव से बड़े व्यवस्थाप्रिय थे। उन्होंने अपना सारा जीवन नियमपूर्वक ही बिताया है। उठने-बैठने, खाने-पीने और घूमने-फिरने तक में उन्होंने अपने नियम को भङ्ग नहीं होने दिया। उनके सारे के सारे काम नियम के साथ ही होते थे। उनकी व्यवस्था को देखकर आश्चर्य होता था। अपने जीवन में उन्होंने जो महान् सफलता प्राप्त की है उसका मूलकारण उनका व्यवस्था-प्रेम ही था।

## गृह-जीवन

सांसारिक दृष्टि से द्विवेदीजी वास्तव में सुखी नहीं रहे। उन्होंने अपने आत्मबल से उन्नति की थी, निर्धन से श्री-सम्पन्न हुए थे, पाण्डित्य और लिखने के कौशल से यश तथा सम्मान प्राप्त किया था, यहाँ तक कि अपने क्षेत्र में वे अपने ढङ्ग के अद्वितीय थे। यह सब कुछ था, परन्तु उनका गृह-जीवन सदैव विषाद-पूर्ण रहा। उनके अभ्युदय का सुख-भोग उनके पिता न भोग सके। उनकी माता के जीवन-काल में उनकी एकमात्र कन्या का निधन हो गया और वे पौत्र के मुख-दर्शन की अभिलाषा मन में लिये ही स्वर्गधाम को चली गईं। अन्त में

उनकी पत्नी ने भी, उन्हें ४२ वर्ष की उम्र में विधुर बनाकर, सती-लोक को प्रयाण किया। इस समय वे अपने कुटुम्ब में अकेले रह गये थे और सो भी सन्तानहीन। उन्होंने अपनी माता को प्रसन्न रखने के लिए बहन और बहनोई को अपने यहाँ रख लिया था। बहन की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने बहनोई का दूसरा विवाह किया था। इस विवाह से उनके बहनोई के दो कन्यायें और एक पुत्र हुआ। इसके बाद वे भी दिवङ्गत हो गये। अपनी पत्नी की सहायता के लिए द्विवेदीजी ने अपनी बाल-विधवा सलहज को अपने यहाँ बुला लिया था। भरी जवानी में पत्नी का देहावसान हो जाने पर द्विवेदीजी के परिवार में उनकी यही सलहज तथा उनके बहनोई की विधवा पत्नी तथा इनकी तीन सन्तानें थीं। यही उनका कुटुम्ब था और वास्तव में उनके जीवन के अन्त तक उनका कुटुम्ब ही बना रहा। उन्होंने इन सबको अपना बनाकर रक्खा। वे इन्हीं के सुख-दुःख में फँसे रहकर अपना दुःख भूले रहे। उन्होंने अपने बहनोई की सन्तानें अपनी ही सन्तानें समझीं और इनको पढ़ाया-लिखाया तथा बड़े हौसले के साथ उनकी विवाह-शादियाँ कीं तथा वे अपनी सारी जायदाद अपने भानजे को दे गये। इसमें सन्देह नहीं कि उनके भानजे तथा उनकी भानजियों ने उन्हीं को अपना सब कुछ समझा था।

परन्तु द्विवेदीजी का इतना ही कुटुम्ब नहीं था। उनके ऐसे कम से कम दो और भी कुटुम्ब थे जिनके प्रति उनका

अपने इस कुटुम्ब से कम अनुराग नहीं था। और वे इन्हीं तीनों कुटुम्बों के प्रेम-पाश में जीवन पर्यन्त बँधे रहे। इन्हीं के बीच में रहकर वे गृह-जीवन का सुख-दुःख भोगते रहे।

यों तो अपने ही शारीरिक कष्ट से द्विवेदीजी जीवन भर दुखी रहे, ऊपर से इन कुटुम्बों की आधियों-व्याधियों से भी कम पीड़ित नहीं रहे और उस दशा में उनका सांसारिक रूप अपने ढङ्ग का निराला था। निराला इसलिए था कि इन कुटुम्बों के प्राणियों को उन्होंने एक दिन या एक क्षण के लिए भी ग़ैर नहीं समझा, भले ही इनके असद्व्यवहारों से वे सदा सन्तप्त तथा उद्विग्न होते रहे हों।

द्विवेदीजी के गृह-जीवन में सबसे मार्के की बात एक यह भी रही है कि उन्होंने पत्नी के देहावसान के बाद अपना दूसरा ब्याह नहीं किया। उस ज़माने में उस उम्र के लोग क्या, उनसे भी अधिक उतरी हुई उम्र के लोग तक पत्नी का वियोग हो जाने पर दूसरा ब्याह कर लेते थे। परन्तु मित्रों का बार-बार दबाव पड़ने पर भी उन्होंने दूसरा ब्याह नहीं किया और अपनी स्वर्गीया पत्नी की याद में उसकी प्रस्तर-मूर्ति स्थापित करके उसके प्रति अपने असीम अनुराग का ही प्रमाण दिया।

सभी तरह के अभावों के बीच में द्विवेदीजी ने अपना लम्बा गृह-जीवन जिस ख़ूबी के साथ बिताया है उससे उनकी उदार मनोवृत्ति और हृदय की विशालता का ही परिचय मिलता है

और इस दृष्टि से उनका गृह-जीवन दूसरों की दृष्टि में विषाद-पूर्ण होते हुए भी उनकी दृष्टि में पूर्ण रूप से सन्तोषप्रद ही रहा है।

द्विवेदीजी खान-पान में तथा रहन-सहन में बहुत चौकस रहते थे। वे वही चीज़ खाते-पीते थे जो उनके शरीर के लिए हितकर होती थी। वे जीभ के कच्चे नहीं थे। और अपने इसी संयम के द्वारा वे अपने दीर्घ जीवन का साधारण रूप से स्वस्थ रहकर यापन कर सके।

## कुछ विशेष बातें

द्विवेदीजी की अपनी अलग विशेषतायें थीं। उनमें व्यव-हार-कुशलता सबसे बढ़ी-चढ़ी थी। जो भी उनके पास जाता था—लड़का, जवान, जरठ, स्त्री-पुरुष कोई भी हो, वे सबके साथ विनम्र व्यवहार ही नहीं करते थे, किन्तु अपनी शक्ति भर उसकी मदद भी करते थे। बातचीत उनकी सरस और मधुर होती थी, साथ ही स्पष्ट और बेलौस। वे गुरु-गम्भीर आवाज़ में बोलते थे, और ठहर ठहरकर बोलते थे। इसका एक लाभ यह होता था कि उन्हें वही बात दुबारा नहीं कहनी पड़ती थी। एक ही बार के कहने से उनकी बात लोग समझ जाते थे।

द्विवेदीजी काम करने में आलस्य नहीं करते थे। जो करना होता उसे तुरन्त करने लग जाते और उसे समाप्त करके ही दम लेते थे। वे लोगों के पत्रों का उत्तर तत्काल देते थे, पर जो उनके पत्र का उत्तर नहीं देता था उससे बुरा

मान जाते थे। द्विवेदीजी को पान खाने का बेहद शौक़ था। यही नहीं, दूसरों को भी ख़ूब खिलाते थे। हाँ, बाद को अर्थात् जीवन के पिछले दिनों उन्होंने पान खाना बिलकुल छोड़ दिया था और उसके स्थान पर चूने से मली हुई तम्बाकू खाया करते थे। चाय भी पहले बहुत और नियमपूर्वक पिया करते थे। परन्तु इधर उसको भी छोड़ दिया था।

हाँ, शौक़ जिसे कहना चाहिए वह आम खाने का था। कहीं पर हों, आम की ऋतु में वे अपने गाँव दौलतपुर ज़रूर ही आ जाते थे। आम खाने के लिए उन्होंने कई एक बाग़ मोल लिये थे और अपने निजी बाग़ों में और नये पेड़ लगवाये थे। उनके ऐसा भी एक निजी पेड़ था, जो उन्हें वैशाख से ही पके आम देने लगता था। भादों में पकनेवाले पेड़ भी उनके बाग़ में थे। इस प्रकार वैशाख से भादों तक उन्हें आम खाने को मिलते रहते थे। आम खाने से उनका क़ब्ज़ दूर हो जाता था, साथ ही उनका उन्निद्र रोग भी बहुत कम पड़ जाता था।

द्विवेदीजी अपने व्यवहार में बड़े नियमबद्ध थे और अपना सारा हिसाब-किताब बहुत दुरुस्त रखते थे। पिछले दिनों गाँव में रहकर वे खेती-बारी करने लग गये थे। वे खेती-सम्बन्धी आय-व्यय का ब्योरा भी लिखते रहते थे। यहाँ तक कि किस खेत में कितनी पास डाली गई है, उसमें कितनी लागत लगी है, क्या आय हुई है, यह सब वे ब्योरे के साथ लिख रखते थे। और तो और, उनके लेखा में यह तक लिखा

मिलेगा कि अरहर की लकड़ियों के कितने गट्ठे काम आये, कितने दूसरों को दिये गये तथा कितने सड़ गये। परन्तु वे यह आशा कभी नहीं करते थे कि दूसरे भी वैसा ही करें। उनके भानजे श्री कमलाकिशोर के ब्याह के समय उनका उन्निद्र रोग बढ़ गया था। अतएव बारात के प्रबन्ध का भार उन्होंने अपने एक कृपापात्र को सौंप दिया था और ख़र्च के लिए काफ़ी अधिक रुपया भी एक थैली में रखकर उन्हें दे दिया था। वे द्विवेदीजी के हिसाब-किताब रखने की बात को जानते थे, अतएव उन्होंने विवाह के ख़र्च का ब्योरेवार हिसाब लिखना शुरू कर दिया। परन्तु सभी तो द्विवेदी नहीं हो सकते। बारात के इलाहाबाद पहुँचते पहुँचते प्रबन्धकजी के हिसाब लिखने में गड़बड़ हो गया और उनके हिसाब में पाँच रुपये की घटी आ गई। उन्होंने जाकर द्विवेदीजी से अपनी दुरवस्था का हाल बताया। द्विवेदीजी ने हँसकर कहा, तुम हिसाब लिखते ही क्यों हो? मज़े से ख़र्च करो। विवाह के बाद ख़र्च से जो रुपया बचा उसे उन्होंने जब द्विवेदीजी को लौटाया तब वे बोले—मेरे जीवन में एक यही ख़र्च है जिसका ब्योरेवार लेखा मैं नहीं रख रहा हूँ।

द्विवेदीजी अपनी जवार में महावीर बाबू के नाम से प्रसिद्ध थे। रेलवे में नौकरी करने के कारण उनका पहनावा रेल के बाबुओं जैसा रहता भी था। परन्तु वे थे हृदय से देहाती और जब देहात में आकर स्थायी रूप से रहने लगे तब उन्होंने

वहाँ के लोगों की तरह का अपना रहन-सहन बना लिया। आवश्यकता के कारण चश्मा और घड़ी यही दो चीज़ें उनके बाबूपन के ठाठ-बाट की याद दिलाने को उनके पास रह गई थीं। वे जैसे भीतर से वैसे ही ऊपर से ठेठ देहात के आदर्श भलेमानस जैसे ही थे।

द्विवेदीजी की धारणा-शक्ति बहुत प्रबल थी। उन्हें ग्रन्थ के ग्रन्थ याद थे। एक बार उन्हें घर से कानपुर जाते समय, बिन्दकी रोड स्टेशन पर, रात बितानी पड़ी। उनकी तरह और भी यात्री स्टेशन पर पड़े थे, जिनमें दो पण्डित भी थे। सो जाने से रात की गाड़ी चूक न जाय, इस विचार से जागते रहने के लिए उन्होंने अन्त्याक्षरी का आश्रय लिया। कुछ ही देर के बाद उनमें एक पण्डित बोल गया। द्विवेदीजी अपने बिस्तरे पर पड़े उनका यह द्वन्द्व सुन रहे थे। एक पण्डित को हारते देखकर द्विवेदीजी ने उसका पक्ष लिया। कुछ देर के बाद वह पण्डित भी चुप हो गया। तब उस पण्डित के साथी ने श्लोक कहना शुरू किया। पर द्विवेदीजी श्लोक पढ़ते रहे और उन दोनों ने बारी बारी से द्विवेदीजी का सामना किया और उनके जवाब में सारी रात श्लोक पढ़ते रहे। जब गाड़ी का समय आया तभी उनका यह विवाद बन्द हुआ।

द्विवेदीजी मिलने-जुलने में तथा आगत-स्वागत करने में बड़े मृदुल और बड़े कुशल थे। जो भी उनके पास जाता, आनन्दित होकर लौटता। उनका व्यवहार सभी

के साथ बहुत ही सुखद होता था। बातचीत उनकी बड़ी रोचक एवं प्रभावपूर्ण होती थी। गम्भीर होते हुए भी वे बड़े हँसमुख थे। कोई भी होता, वे मौक़ा पाकर विनोद करने से कभी नहीं चूकते थे। उनके पास जाकर फिर उठने की इच्छा नहीं होती थी। जो कोई उनके यहाँ जाता था उसका वे जलपान तथा पान आदि से सत्कार करते थे और जब जाने लगता, कुछ दूर तक पहुँचाने अवश्य जाते थे। जब अपने काम से छुट्टी पा जाते तब उनकी मित्र-मण्डली गप-शप करने को नित्य एकत्र होती और उस समय उनका वार्तालाप सुनने के योग्य होता। उनकी बातें ख़ाली रोचक ही नहीं, हृदयग्राही भी होती थीं।

## अन्त-काल

द्विवेदी जी शरीर से हृष्ट-पुष्ट और लम्बे-चौड़े थे। वे एक सैनिक के पुत्र थे। परन्तु उन्होंने अपने शरीर से बहुत ही अधिक परिश्रम लिया और जब सन् १९०९ में उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया तब लाख प्रयत्न करने पर भी वह फिर नहीं सुधर सका। यह तो उनका संयम था कि वे उसके बाद वर्षों तक जीते रहे। यद्यपि वे बीच-बीच में कई बार बीमार हुए और दो-एक बार तो ऐसे बीमार पड़ गये थे कि चिकित्सक तक उनके जीवन से निराश हो गये थे, परन्तु वे प्रत्येक बार बच गये। अन्तिम बीमारी के समय यद्यपि वे काफ़ी वृद्ध हो गये

थे, तो भी ऊपर से देखने से उनका स्वास्थ्य वैसा ख़राब नहीं था, तथापि भीतर से उनका शरीर खोखला हो गया था और उनकी सारी शक्ति क्षीण हो गई थी। ऐसे समय उनको जलोदर हो गया। उसके पहले उन्हें खुजली हुई थी। कोई भी यह न जान सका कि वह खुजली जलोदर का पूर्वरूप है। अन्त में जलोदर ने अपना रूप प्रकट किया। दौलतपुर में उसकी उचित चिकित्सा नहीं हो सकती थी। कई कारणों से उनकी चिकित्सा की उचित व्यवस्था भी नहीं की जा सकती थी। अतएव उन्होंने अपने एक डाक्टर-सम्बन्धी का ही आश्रय लेना उचित समझा। वे रायबरेली में रहते थे। उन्होंने द्विवेदीजी को अपने यहाँ लाकर यथासम्भव पूरी साव-धानी से चिकित्सा की, किन्तु चिकित्सा से जैसा चाहिए वैसा लाभ नहीं हुआ और २१ दिसम्बर सन् १९३८ को हिन्दी का यह सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया।

द्विवेदीजी की मृत्यु के संवाद से हिन्दी के विशाल क्षेत्र में महान् शोक छा गया। हिन्दी के सभी पत्रों ने उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट किया। इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी बन्द हो गई और प्रान्तीय असेम्बली में यथाविधि शोक प्रकट किया गया। हिन्दी के क्षेत्र पर द्विवेदीजी का कैसा प्रभाव था एवं वे कितना लोकप्रिय थे, यह उनके दिवङ्गत होने पर हुई घटनाओं से भले प्रकार प्रकट हो गया।

---






पुस्तक वितरण की तिथि नीचे अङ्कित है। इस तिथि सहित १५ वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा .६ नये पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

भावाभिव्यक्तियाँ

जैसे दीखने वाले महात्मा मुंशी
के गुरुकुल को देखने जब मैं
थी। परिवार के कोलाहल औ
स्पष्ट दिखाई देता था। महात्म
ष्टि दी।
जी से मेरा परिचय त
के रूप में हुए थे। वह प
था। उसी दिन से काँगड़ी गुरु
क्षा के क्षेत्र में उनका महान
वादी शिक्षापद्धति से सन्तुष्ट
क शिक्षा का प्रचार करना चा
पढ़ाते थे, अंग्रेजी माध्यम से
क्षाकाल में विद्यार्थी ब्रह्मचर्य क
के सत्याग्रहियों के लिए उस
रहा था, उसमें चन्दा देने के
हित किया था। वे चाहते थे
दूरी करके चन्दा दें, क्योंकि
कुलियों का युद्ध ही था। लड़
और स्वयं कमाई हुई पूरी मज
में मुझे जो पत्र भेजा था, वह
प्रिय भाई' कहक
महात्मा मुंशीराम व
कभी मिले नहीं।
ज़ हम लोगों के सु
श लौटूं, उनके
महात्मा मुंशीराम
पाने के बाद
१९१५ में हम द
बाद से हर मुलाकात में हम
और एक दूसरे को ज्यादा
प्राचीन भारतीय संस्कृति और
म था। बेशक, असहयोग के
सहयोगी थे। स्वराज्य के लिए
नफरत करते थे और अस्पृश
हते थे। अस्पृश्यों की स्वाधीन
नहीं था।
सुधारक थे। वे कर्मवीर थे,
का विश्वास था, वे उसका पा
लिए उन्हें कष्ट झेलने पड़े।
के सामने वे कभी काँपे नहीं